कर्म की गति न्यारी

प्रवचन माला

(भाग प्रथम से चतुर्थ)

लेखक :

पूज्य पन्यास अरुण विजयजी म. सा.

"एम.ए.", "साहित्यरत्न"

प्रकाशक :

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ

आत्मानन्द जैन सभा भवन,

घी वालों का रास्ता,

जयपुर–302 003

दूरभाष : 563260

प्रथम प्रवचन

संसार चक्र एवं आत्म परिभ्रमण

परम पूजनीय परमपिता परमात्मा चरम तीर्थपति श्रमण भगवान श्री महावीरस्वामी को नमस्कार पूर्वक.....

न सा जाइ, न तत् जोणी, न तत् कुलं न तत् ठाणं ।
जत्थ जीवो अणंतसो, न जम्मा न मुआ ॥

—ऐसी कोई जाति नहीं है, ऐसी कोई योनि नहीं है, ऐसा कोई कुल नहीं है, ऐसा कोई स्थान (क्षेत्र) नहीं है जहां पर जीव अनन्तबार न जन्मा हो और न मरा हो। अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड की एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की सभी जातियों में, ८४ लाख जीव योनियों में, सभी कुलों में, सभी स्थानों (क्षेत्रों) में यह जीव अनन्त बार जन्म-मरण धारण कर चुका है।

अविरत परिभ्रमण

इस ब्रह्माण्ड में तीन लोक हैं। (१) देवलोक जिसे ऊर्ध्व लोक भी कहते हैं। (२) मनुष्य लोक (मृत्यु लोक) या तिर्च्छा लोक, (३) अधोलोक-पाताल या नरक लोक। इन तीनों लोकों में जीव सृष्टि है। देवलोक जिसे स्वर्ग कहते हैं। वहां स्वर्गीय देवी-देवता रहते हैं। तिर्यक् लोक में मनुष्य और तिर्यक् अर्थात् पशु-पक्षी रहते हैं। अधोलोक में सात नारकियों में नारकी जीव रहते हैं। इन तीनों लोकों में जीव का गमनागमन अविरत रहता है। इन्हीं तीनों लोक के जीवों का चार गति में विभाजन जैन शास्त्रों में किया गया है। मृत्यु के बाद जीव जिस क्षेत्र में जाकर जन्म लेता है वह उसकी गति कहलाती है। इन्ही चारों गतियों में जीव अविरत परिभ्रमण करता हैं। चारों गतियों में जाता हुआ जीव तीन लोक को अपना क्षेत्र बनाता है। उस-उस क्षेत्र में-लोक में जीव रहता है।

चार गति में गमनागमन

जैन धर्म में स्वस्तिक एक मंगल चिह्न के रूप में माना गया है। अष्ट मंगल में वह पहला मंगल है। मन्दिर में अष्ट प्रकारी पूजा में स्वस्तिक बनाकर प्रभु के समक्ष प्रार्थना की जाती है कि हे प्रभु! मैं इस चार गतिरूप संसार के

परिभ्रमण से कैसे बचुँ। मृत्यु के बाद देह छोड़कर जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है। ऐसी ४ गतियां है। (१) मनुष्य गति, (२) देव गति, (३) नरक गति, (४) तिर्यंच गति। मनुष्य गति में मनुष्य नर-नारी के जीव रहते हैं। देव गति में स्वर्गीय देवता रहते है, नरक गति में नारकी जीव रहते हैं, तथा तिर्यंच गति में पशु-पक्षी के जीव रहते हैं। इन चारों गति के जीवों के निवास स्थान के क्षेत्र रूप में तीन लोक हैं। तीन लोक स्वरूप इस समस्त ब्रह्माण्ड का परिमाण १४ रज्जु लोक प्रमाण होने से इसे चौदह राजलोक कहते हैं, इसी में समस्त जीव राशि सन्निहित है।

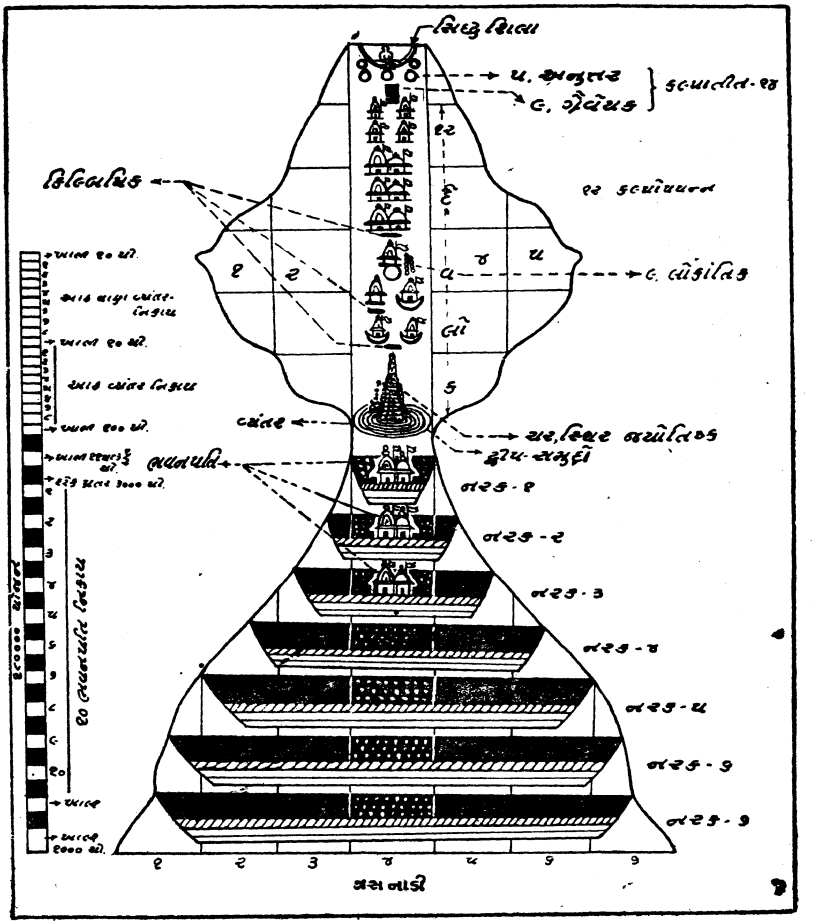

संसार क्या है ? क्या संसार किसी वस्तु या पदार्थ विशेष का नाम है ? या क्या किसी चिडिया का नाम है ? क्या हाथ में लाकर हम वस्तु दिखाकर कह सकते है कि इसका नाम संसार हैं ? नहीं, संसार जीव के परिभ्रमण को कहा जाता है। चार गतिरूप यह संसार है जिसमें जीवों का परिभ्रमण सतत होता रहता है। जिस तरह एक तैली के यहां तैली का बैल घूमता रहता है। आँख पर पट्टी बंधी हुई है और गोल-गोल घूमता रहता है। उसी तरह जीव एक गति से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी इन चारों गति में घूमता रहता है। यही जीव का संसार है। अतः संसारी जीव का लक्षण करते हुए पू. हरिभद्रसूरि महाराज ने शास्त्रवार्तासमुच्चय ग्रन्थ में कहा है कि—

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्म फलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता सह्यात्मा नान्यलक्षणः॥

जो कर्म का कर्ता है और किए हुए कर्म के फल को भोगने वाला है, संसार में सतत जो घूमता रहता है, वही जीव है। यहीं आत्मा का लक्षण है, सृ-गतौ धातु से संसार शब्द निष्पन्न हुआ है, अर्थात् सतत गतिशील जो है वह संसार है। संसरण शील संसार है। बहती हुई नदी का प्रवाह भी सतत गतिशील है उसे संसार नहीं कहां, परन्तु जहां सतत जीवों का संसरण होता है वह संसरणशील संसार है। सर्पाकार वक्रगति से जीव ऊंची-नीची गतियों में सतत भटक रहा है। न तो कोई उद्देश्य है और न ही कोई लक्ष्य। लक्ष्यहीन रूप में तैली के बैल की तरह सिर्फ चारों गति में घूमता है।

क्या यह परिभ्रमण जीव स्वयं करता है? या हमारी लगाम किसी अन्य के हाथ में हैं ? क्या कोई ऊपरवाला हमको घूमाता है ? या जीव स्वयं अपने ही कारण से घूम रहा है ? क्या बात है ? इसका मूल कारण हमें ढूंढना है। इस विषय में आगे विचार करेंगे।

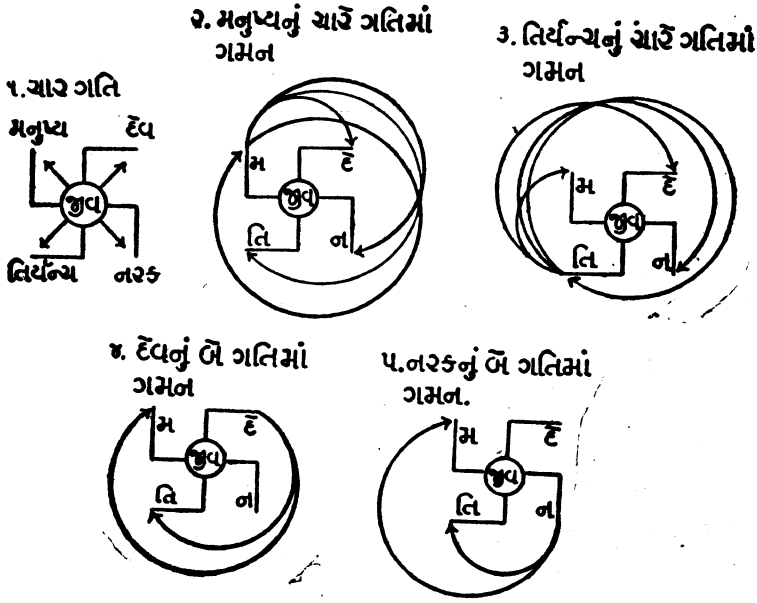

स्वस्तिक के केन्द्र में जीव है। जैन दर्शन में जीव और आत्मा ये दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं। जीव को ही आत्मा और आत्मा को ही जीव कहा गया है। जीव और आत्मा में कोई भेद नहीं है। जीव के परिभ्रमण के लिए संसार में ४ गतियां हैं। जिनको स्वस्तिक से सूचित की गई है। बताए हुए चित्र के अनुसार स्वर्गीय देव गति का जीव अपनी मृत्यु के बाद वहां से च्युत होकर सिर्फ २ ही गति में जाता है एक तो तिर्यंच गति में जाता है जहाँ घोड़ा, गधा, हाथी, ऊंट, बैल, बकरी आदि के जन्म धारण करता है। स्वर्ग अत्यन्त सुख रूप होते हुए भी वह मोक्षस्वरूप नहीं है। जैन दर्शन में स्वर्ग को भी संसार में ही गिना है। स्वर्ग प्राप्त करना कोई बड़ी बात नहीं है। वही सर्वोपरि या सब कुछ नहीं हैं। पशु-पक्षी भी मरकर देवगति में–स्वर्ग में जाते हैं। देव बनते हैं। भगवान महावीर स्वामी ने जिस चंडकौशिक सर्प को "बुझ-बुझ-चडकौशिक !" के शब्दों से संबोधित किया वह सांप जागृत हुआ। अंतस्थ चेतना जागृत हो गई, ऊहा-पोह से पूर्व जन्म की जाति स्मृति का ज्ञान प्रगट हुआ। अपने ही भूतकाल को देखने लगा। पूर्व जन्मों को देखने लगा। उसे अपने किए हुए पाप कर्म आंखों के सामने दिखाई देने लगे, मनुष्य जन्म में से गिरकर मैं आज यहां पशु गति में आया हूँ। पापों का

पश्चाताप शुरू हुआ है, पश्चाताप की अग्नि में १५ दिन उपवास—(पासक्षमण) अनशन करके अशुभ पापकर्म क्षय करके आठवें सहस्रार स्वर्ग में गया।

भगवान पार्श्वनाथ जब गृहस्थाश्रम में थे तब घोड़े पर बैठ कर नगर के बाहर गए हुए थे। कमठ तापस जो पंचाग्नि तप कर रहा था। उसके जलाए हुए काष्ठों में एक सर्प जल रहा था। अपने ज्ञान से देखकर पार्श्वकुमार ने आज्ञा देकर सैनिक के द्वारा एक जलता हुआ बांस निकलवाया और उसमें से सांप को बाहर निकाला, जो अर्धा तो जल चुका था अर्धदग्ध देहवाले उस सर्प को नमस्कार महामन्त्र सुनाया। सांप की चेतना ने शान्ति का अनुभव किया। मरकर देव गति में जाकर नागराज धरणेन्द्र देव बना।

अतः स्वर्ग प्राप्त करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैन धर्म ने देवगति-स्वर्ग को इतना ज्यादा महत्त्व नहीं दिया है जितना वैदिक परम्परा ने दिया है। अतः देवगति भी संसार चक्र की चार गतियों में से एक है। वहां भी जन्म-मरण आदि सतत है। देवगति से अक्सर मरकर ९०% देवताओं के जीव तिर्यंच—पशु-पक्षी की गति में जाकर जन्म लेते हैं।

एक स्वर्गीय देव जो मनुष्य लोक में तीर्थ-यात्रा करने निकला था, कि उसने पर्वतमाला की गुफा में एक ज्ञानी मुनि महात्मा को देखा। वहां जाकर वंदन-नमस्कार कर बैठा। तपस्वी मुनिराज अपनी ध्यान साधना समाप्त करके बैठे थे। देव ने पूछा—हे भगवन्! कृपा करके मेरी आगामी गति क्या होगी? वह बताइए। महात्मा ने अपने ज्ञान से उपयोग पूर्वक देख कर बताया कि हे देव! देव भव से मृत्यु के बाद तुम्हारी तिर्यंच गति होगी। तुम तिर्यंच गति में जाकर बन्दर की योनि में जन्म लोगे। बन्दर बनकर पर्वतमाला के वृक्षों पर कूदते रहोगे। बन्दर का भव सुनते ही देव बड़ा दुःखी हुआ। अ रे रे....! इतना सुन्दर देव का जन्म, और यह स्वर्गीय सुख-भोग सब कुछ छोड़कर, मरकर तिर्यंच गति में बन्दर बनना पड़ेगा। उसके लिए असह्य हो गया।

देव गति से हीरे-सोने में जन्म

देव गति से मरकर पशु-पक्षी बनना पड़े यह तो फिर भी अच्छा है। चूंकि पंचेन्द्रिय पर्याय में तो हैं। लेकिन शास्त्रकार महर्षि यहां तक कहते हैं कि देव गति का जीव देव जन्म से मरकर ऐकेन्द्रिय पर्याय में हीरे-मोती-सोने-चांदी आदि में भी जन्म लेता है। ये भी तिर्यंच गति में ही कहलाते हैं। गति तिर्यंच की ही है,

लेकिन जाति एकेन्द्रिय की है। एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय—ये पाँचों इन्द्रियवाले जीव तिर्यंच गति में गिने जाते हैं। अब आप सोचिए देव गति का पंचेन्द्रिय देव गिर कर एकेन्द्रिय पर्याय में हीरे-मोती सोने-चांदी में जाकर जन्म लेता है तो यह कितना भारी पतन हुआ? कितने ऊपर से कितना नीचे गिरा? क्या इतना नीचे गिरकर वापिस इतना ऊपर चढ़कर देव बन सकेगा? नहीं सम्भव नहीं है। ऊपर से नीचे गिरना आसान है परन्तु नीचे से ऊपर चढ़ना आसान नहीं है। पंचेन्द्रिय पर्याय से सीधा गिरकर एकेन्द्रिय में जीव गया, परन्तु एकेन्द्रिय पर्याय से सीधे पंचेन्द्रिय पर्याय में जाना बड़ा मुश्किल है। इस तरह देवगति के देवता का एकेन्द्रिय पर्याय में, पृथ्वीकाय में, हीरे, सोने-चांदी आदि में जाकर जन्म लेना, कितनी भारी सजा है?

देव गति से सीधे नरक में नहीं जाते

देवगति भी संसार में ही गिनी जाती है। मानलो कि देव गति का कोई देव बहुत ज्यादा पाप करता है तो वह मर कर क्या नरक में जाएगा? नहीं! जैन शास्त्रों में ऐसे शाश्वत नियम बताए गये हैं कि (१) देव गति से मर कर सीधा कोई भी देवता का जीव कभी भी नरक गति में नहीं जाता। हां! जन्म तिर्यंच या मनुष्य गति में करके फिर वहाँ से नरक में जा सकता है। परन्तु सीधा देव मर कर नारकी नहीं बनता। (२) उसी तरह देव गति का देव मर कर तुरन्त पुनः देव नहीं बनता, पुनः देव गति में जन्म नहीं लेता। एक जन्म मनुष्य या तिर्यंच की गति में करके वहां से वापिस देव गति में जा सकता है। यह शाश्वत नियम है। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि देव गति से मर कर च्युत होकर देव सिर्फ मनुष्य और तिर्यंच की दो ही गतियों में जा सकता है। अन्य दो गतियां देव के लिए बन्द है।

नारकी जीव के नियम

ठीक वैसे ही दोनों नियम नरक गति के नारकी जीव के लिए हैं। एक तो यह कि नरक गति का नारकी जीव मृत्यु के बाद सीधा देव गति में नहीं जा सकता। चूंकि नरक गति में पुण्योपार्जन करने का कोई ऐसा साधन नहीं है कि नारकी जीव उस पुण्य से सीधा स्वर्ग में जा सके। नरक गति में नारकी जीव चाहे जो भी कुछ करे, कितनी भी वेदना सहन करे लेकिन वह देव गति उपार्जन नहीं करता। (२) उसी तरह से दूसरा शाश्वत नियम यह भी है कि नरक गति का

नारकी जीव मरकर तुरन्त सीधा पुनः नारकी नहीं बनता। पुन नरक में सीधा ही जन्म नहीं लेता। हाँ! जन्म मनुष्य या तिर्यंच गति में करके आए और फिर नरक में जन्म ले यह सम्भव है। उदाहरण के लिए भगवान महावीर की ही २७ जन्मों की परम्परा में देखिए। १८ वें त्रिपृष्ट वासुदेव के जन्म में शय्यापालक अंगरक्षकों के कान में गरम-गरम तपाया हुआ शीशा डलवाना, एवं सिंह को फाड़-कर मार देना आदि महा पापों से उपार्जित कर्म के कारण १९वें जन्म में वे सीधे सातवीं नरक में गये। उस नरक का आयुष्य समाप्त होते ही सीधे तिर्यंच गति में गये जहां वे सिंह बने। यह भगवान महावीर का २०वां भव था। यहाँ से मरकर २१वें जन्म में वे पुनः ४ थी नरक में गए। पुनः ४ थी नरक से कालावधि समाप्त करके २२वें जन्म में मनुष्य गति में आए।

भगवान महावीर के दृष्टान्त से यह अच्छी तरह देख सकते हैं कि दोनों बार नरक गति से निकलकर सीधे नारकी नहीं बने परन्तु तिर्यंच और मनुष्य गति में गए हैं। अतः यह शाश्वत नियम है कि नरक गति का नारकी जीव मृत्यु के पश्चात् सिर्फ मनुष्य और तिर्यंच की दो गति में ही जाता है। उसी तरह देव भी मृत्यु के पश्चात् तिर्यंच और मनुष्य की इन दो ही गति में आता है। देव और नारक इन दोनों के लिए तो ये दो गतियां हुई। सिर्फ मनुष्य और तिर्यंच। इसमें भी ऐसा नियम है कि ९८% जीव तो तिर्यंच गति में ही जाते हैं। चूंकि तिर्यंच गति बड़ी लम्बी चौड़ी है। एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के सभी इन्द्रियों वाले जीव तिर्यंच गति में है। अतः तिर्यंच गति में अनन्त की संख्या में जीव राशि है। एकेन्द्रिय के पांचों स्थावर—पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी के जीव) तेउकाय (अग्नि के जीव), वायुकाय एवं वनस्पतिकाय ये सभी एवं दोइन्द्रिय वाले कृमि, कीड़े, आदि तथा तेइन्द्रिय में चींटी, मकोड़े आदि चउरिन्द्रिय में मक्खी, मच्छर आदि पंचेन्द्रिय में जलचर मछलियां आदि, स्थलचर में हाथी, घोड़े, बैल-बकरियां आदि एवं खेचर में कौआ, तोता, मैंना आदि इन सबकी गिनती गति के दृष्टिकोण से तिर्यंच गति में ही होती है। अतः संख्या की दृष्टि से यह तिर्यंच गति बहुत बड़ी है। इसमें अनन्त की संख्या में जीव राशि है। जबकि संख्या की दृष्टि से मनुष्य की गति में चारों गति की तुलना में बहुत ही कम संख्या है। अतः मनुष्य गति सबसे छोटी है। तिर्यंच गति में जीवों की संख्या अनन्त है। देवगति और नरक गति में जीवों की संख्या असंख्य की है। जबकि मनुष्य गति में जीवों की संख्या बहुत ही कम सिर्फ संख्यात है। वह भी समस्त वर्तमान विश्व ही नहीं अपितु ढाई द्वीप के सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र के सभी मनुष्यों की संख्या भी देखी जाय तो सर्वज्ञ भगवंतों ने बताया कि सर्वोत्कृष्ट

मनुष्यों की संख्या $(२)^{96}$ ही हो सकती है। $(२)^{96}$ अर्थात् २९ अंक वाली संख्या यही उत्कृष्ट संख्या मनुष्य गति के समस्त मनुष्यों की हो सकती है। यह केवल संख्यात की गिनती में आती है जबकि इतनी भी संख्या कभी पूरी हो नहीं पाई है। अतः मनुष्य गति में तो बहुत ही सीमित मनुष्य जीवों की संख्या है। इसीलिए मनुष्य का जन्म कीमती जन्म है। अतः देव-नरक या तिर्यंच की गति से मुश्किल से २% या ५% जीव ही मनुष्य गति में आते होंगे।

मनुष्य का चारों गति में गमन

मनुष्य गति और तिर्यंच गति के जीवों के लिए उपरोक्त नियम नहीं लागू होता। ये चारों गति में जाते हैं, जन्म लेते हैं। मनुष्य मृत्यु के बाद देवगति में जाकर देव बनता है। नरक गति में जाकर नारकी बनता है। तिर्यंच गति में जाकर पशु-पक्षी के जन्म धारण करता है। उदाहरण के लिए एक राजा की बात देखें। राजा शिकार के लिए घोड़े पर तेज रफ्तार से जा रहा था। दूर एक वृक्ष पर पके हुए मीठे बेर के फल दिखाई दिए। राजा को बेर बहुत ज्यादा प्रिय थे। अतः देखते ही मन ललचा गया। योगानुयोग रास्ता भी उसी वृक्ष के नीचे से जा रहा था। राजा ने सोचा वृक्ष के नीचे से पसार होते समय तोड़ लूंगा। ज्योंही घोड़ा वृक्ष के नीचे से पसार हुआ कि दूसरी डाल पर लटक रहा रस्सी का फांसा राजा के गले में लग गया। तेज रफ्तार से घोड़ा नीचे से पसार हो गया और राजा के गले में फांसी लग गई। देखते ही देखते राजा के प्राण पंखेरु उड़ गए। उसी समय किसी पोपट ने उस पके हुए मीठे बेर फल में चांच मारी, झूठा किया, नीचे गिराया। राजा का जीव अन्तिम इच्छानुसार उसी बेर में जाकर कीड़े का जन्म धारण करता है। सोचिए मनुष्य गति में से तिर्यंच गति के तेइन्द्रिय पर्याय के कीड़े के रूप में कैसा जन्म मिला। मनुष्य के लिए एक सबसे अच्छी सुविधा यह है कि यदि मनुष्य चाहे और तदनुसार पुरुषार्थ करे तो पुनः मनुष्य भी बन सकता है। एक बार प्राप्त हुई मनुष्यगति के बाद भी तुरन्त मनुष्य बन सकता है। जो सुविधा देवगति में नहीं थी वह मनुष्य गति में है। परन्तु इसके लिए पूरा पुरुषार्थ करें तो ही यह सम्भव है। उदाहरणार्थ भगवान महावीर स्वामी ने अपनी २७ भव की परम्परा में २२वां भव मनुष्य गति में विमल राजकुमार का किया और पुनः सीधे ही २३वां जन्म भी मनुष्य गति में प्राप्त किया। जहां वे प्रियमित्र चक्रवर्ती बने। इस तरह मनुष्य से मरकर पुनः मनुष्य बनने का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसा सौभाग्य बहुत विरले जीव प्राप्त करते हैं। अतः मनुष्य का जीव–मनुष्य गति से चारों गति में जा सकता है। चारों गति में कहीं भी जन्म ले सकता है।

तिर्यंच का चारों गति में गमन

मनुष्य की ही तरह तिर्यंच गति का जीव भी चारों गति में जा सकता है। जन्म-मरण धारण कर सकता है। तिर्यंच गति का जीव पशु-पक्षी मरकर देवगति में स्वर्ग में देव भी बन सकता है। जैसा कि पहले बताया है उसी तरह पशु-पक्षी मरकर नरक गति में नारकी के रूप में भी जन्म लेते हैं। सिंह मरकर जैसे चौथी नरक में गया। तिर्यंच गति के जीव मरकर मनुष्य गति में भी आते हैं मनुष्य बनते हैं। वैसे ही तिर्यंच गति के जीव मरकर पुनः तिर्यंच गति में भी जन्म लेते हैं। जैसे घोड़ा मरकर गधा बने, गधा मरकर हाथी बने, हाथी ऊंट बने, ऊँट-बकरी बने, बकरी-सूअर बने, या सूअर-मछली बने, या मछली-कछुआ बने या कछुआ-कौवा बने, कौवा-गीदड़ बने, इस तरह तिर्यंच गति के जीव अन्दर ही अन्दर जन्म-मरण धारण करते रहते हैं। तिर्यंच गति में जीवों की संख्या अनन्त है। जीवों के प्रकार भी अनेक है। जीवों की उत्पत्ति योनियां भी अनेक हैं। उत्पत्ति क्षेत्र भी काफी लम्बा-चौड़ा असंख्य द्वीप समुद्रों का है। एक समुद्र में ही कितनी मछलियां है? या कितने प्रकार की मछलियां हैं? यही कोई नहीं गिन पा रहा है तो समस्त तिर्यंच गति के जीवों की संख्या और प्रकार गिनने की तो बात ही कहां सम्भव है? सिर्फ स्थलचर में भी देखें तो हाथी-घोड़ा, ऊंट-बैल, गधा-बकरी, बन्दर-सूअर, शेर-चिता-सिंह आदि न मालुम कितने प्रकार के जीव हैं? कितनी बड़ी संख्या है? तिर्यंच गति में ही जीव के अनन्त जन्म हो जाय इतनी लम्बी-चौड़ी संख्या है।

चारों गति में जीवों का परिभ्रमण

इस तरह हमने चारों गति में जीवों का सतत परिभ्रमण देखा। यह गमनागमन अविरत सतत चालू रहता है। जन्म-मरण, जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद पुनः जन्म; फिर से जन्म और फिर से मरण यह चक्र सतत चल रहा है। इस जन्म-मरण के चक्र के लिए धरातल इस चार गति का है। जैसे तैली का बैल जो चलता रहता है घाणी है। उससे बंधा हुआ वह दिन-रात चलता रहता है। आंख पर पट्टी बंधी हुई है। बाहर देख तो सकता नहीं कि मैं कितना दूर निकल गया? परन्तु सोचता है कि दिन-रात चलते-चलते मैं ५०–१०० माइल चला? या कितना चला? एक गांव से दूसरे गांव पहुँचा कि नहीं? परन्तु जब उसे छोड़ा जाता है तब पता चलता है कि अरे रे! मैं जहां था वहीं हूं। एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। इतना चलने के बाद भी एक कदम आगे नहीं बढ़ सका। ठीक वही स्थिति हमारी भी है। चार गति के इस संसार चक्र में हम सतत घूमते रहते हैं। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते हैं,

एक जाति से दूसरी जाति में जाते हैं, एक गति से दूसरी गति में जाते हैं, जन्म लेते हैं, मरते हैं, फिर जन्म लेते हैं, फिर मरते हैं। इस तरह यह चक्र चलता रहता है। सभी जीवों की यही दशा है और मेरी भी यही दशा है। इस तरह अनन्त काल भी बीत गया। चारों गति में घूमता हूँ, भटकता हूं, सतत परिभ्रमण कर रहा हूँ। परन्तु आज भी ज्ञान योग से देखूं, या ज्ञानी भगवंत से पूछूं तो पता चलेगा कि जहां था वही हूँ। इसी चार गति के चक्र में घूमता जा रहा हूँ। चार गति के संसार चक्र से बाहर नहीं निकल पा रहा हूं। न मालूम एक-एक गति में मेरे कितने जन्म-मरण होते गए और आज दिन तक कितने जन्म बीत गए? यह कैसे पता चले? चार गति का यह संसार चक्र अभिमन्यु के कोठे की तरह बड़ा ही गहन है।

संसार चक्र का चक्रव्यूह

एक सीधा स्वस्तिक है और दूसरा गोल स्वस्तिक है। आकृति भेद हैं परन्तु बात वही है। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि स्वस्तिक की चारों पंखुडियां कितनी लम्बी है। एक-एक गति की दिशा देखिए, प्रत्येक गति की दिशा चारों गति में घूमती हुई पूरा गोल चक्र काट रही है। इस तरह जीव चारों गति में घूमता हुआ एक-एक गति में कितनी बार घूम चुका है? एक ही गति में जीव ने कितने जन्म धारण किए हैं? यही बताना असम्भव सा लगता है। अभिमन्यु के गूढ कोठे की तरह इस संसार चक्र में फंसा हुआ जीव बाहर ही नहीं निकल पा रहा है। अनन्त काल बीत गया। कब से प्रारम्भ हुआ इसका पता नहीं है, अतः वह भी अनादि कहा जाता है। इस तरह अनादि-अनंन्त काल से जीव इन चार गति के संसार में सतत-अविरत परिभ्रमण कर रहा है। उदाहरणार्थ मेले में लगे हुए गोल चक्र में जब हम बैठते हैं और चक्र जब ऊपर से नीचे; नीचे से ऊपर गोल-गोल घूमता जाता है तब गति की तीव्रता के कारण हम बाहर कोई दृश्य साफ नहीं देख पाते। दिमाग चक्कर खाने लगता है। बस सिर्फ इतना ही पता चलता है कि हम गोल-गोल घूमते जा रहे हैं। बच्चों के लिए बने गोल चक्र में बच्चों को जैसे बैठाकर घूमाया जाता है वैसे ही हम सभी जीव इस चार गति के गोल चक्र-संसार चक्र में घूम रहे हैं। जन्म-मरण

धारण करते हुए भटक रहे हैं। न मालूम कब छुटकारा होगा ? कभी सद्गति में तो कभी दुर्गति में इस तरह परिभ्रमण चलता रहता है।

सद्गति और दुर्गति

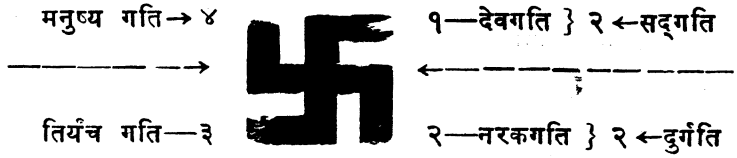

इसी स्वस्तिक में बताई गई ४ गतियों में २ सद्गति है और २ दुर्गति है। स्वस्तिक के दोनों तरफ जहां→ तीर के निशान दिए हैं वहां से स्वस्तिक को आधा कीजिए। ऊपर का आधा स्वस्तिक और नीचे का आधा स्वस्तिक इस तरह दो भाग हो जाएंगे। ऊपर के आधे स्वस्तिक में रही २ गतियां (१) देव गति, और (१ और ४) मनुष्य गति ये सद्गति में गिनी जाती है। जबकि नीचे के आधे हिस्से में २ गतियां (२–३) नरक गति और तिर्यंच गति ये दुर्गति में गिनी जाती है। अशुभ पापोदय के कारण जीव दुर्गति में जाता है और शुभ पुण्योदय से जीव सद्गति में जाता है। स्वर्गीय देव भव एवं मनुष्य जन्म शुभ माने गए हैं अतः सद्गति के अन्तर्गत हैं। सद् का अर्थ भी शुभ ही है। दुर् का अर्थ खराब है। दुर्गति अर्थात् खराब गति। जीव ने न करने योग्य खराब पाप कर्म किए हैं जिसके फल-स्वरूप जीव को खराब गति–दुर्गति नरक की और तिर्यंच की गति प्राप्त होती है। जहां जीव अपने किए हुए खराब पाप कर्म का फल दुःखरूप में भोगता है। ठीक इसके विपरीत जीव अच्छे शुभ पुण्योपार्जन करके सद्गति में जाता है। जहां सुख भी पाता है।

'स्वर्गवास' का लोक–व्यवहार

हम अक्सर देखते हैं कि किसी की भी मृत्यु के पीछे सभी स्वर्गवास ही लिखते हैं। सभी के लिए "इनकी सद्गति हो गई" ऐसा ही लिखते हैं। स्वर्ग = देव गति में या देव लोक में, वास = निवास–गमन। पिता की मृत्यु के बाद बेटा लिखता

है कि—"पिताजी का स्वर्गवास हुआ है।" उसी तरह पुत्र की मृत्यु के पीछे पिता भी "पुत्र का स्वर्गवास ही लिखते हैं। उसी तरह पुत्री की, पत्नी की, पति की, दादा-दादी की, भाई-भाभी की, किसी की भी मृत्यु के पीछे स्वर्गवास ही लिखा जाता है। तो क्या सभी मरकर स्वर्ग में ही जाते होंगे? क्या कोई नरक में, तिर्यंच गति में जाता ही नहीं होगा? जबकि शास्त्रकार महर्षि तो कहते हैं कि जीव चारों गति में जाता है। अपने-अपने किए हुए कर्मानुसार जीव उस-उस गति में जाता है तो क्या सभी के माता-पिता-भाई-बहन आदि सभी सम्बन्धियों ने अच्छे शुभ पुण्य कार्य ही किये हैं? किसी ने भी कोई खराब पाप कार्य किया ही नहीं है? जो कि सभी स्वर्ग में ही जाते हैं। नरकादि अन्य गति में कोई जाता ही नहीं है। और यदि जाता होता तो कोई किसी की मृत्यु के पीछे नरकवास या तिर्यंचवास लिखते। लेकिन आज दिन तक तो ऐसा नरकवास आदि शब्द किसी ने लिखा हो यह देखा नहीं गया। अतः क्या समझना?

कोइ कहता है कि जीव कहां गया इसका हमको पता नहीं चलता। हम कोइ ज्ञानी तो हैं नहीं। अतः नरकवास या तिर्यंचवास कैसे लिखें? बात तो सही है। परन्तु मैं पूछता हूं कि जब ज्ञानी नहीं है, पता नहीं चलता है, अतः नरकवास या तिर्यंचवास नहीं लिखते तो फिर स्वर्गवास लिखना क्यों प्रारम्भ कर दिया है? क्या जीव स्वर्ग में जाता है यह पता आपको लग गया? क्या आपको एक ही सिर्फ स्वर्ग जाने का ही पता लगता है? आज तो मानों स्वर्गवास लिखने का प्रचलित व्यवहार हो गया है। आए दिन अक्सर सभी स्वर्गवास ही लिखते हैं। तो क्या सभी मरने वाले स्वर्ग में ही जाते होंगे? अन्य गति में कोइ जाता ही नहीं है?

अच्छा अपने अपने पिता की मृत्यु के पीछे "मेरे पिताजी का स्वर्गवास हो गया है" इस तरह से पत्र लिख कर सभी सगे-सम्बन्धी-रिश्तेदारों को डाले। लोक व्यवहार से आपके पत्र का प्रत्युत्तर तो सामने वाला लिखता ही है। उसने पत्र में क्या लिखा? उसके शब्द ध्यान से पढना। मैनें भी पढ़ा है। सामने वाले ने पत्र में लिखा कि "आपका पत्र मिला..... आपके पिताजी का स्वर्गवास हुआ यह जान कर बहुत दुःख हुआ है। वास्तव में बहुत बुरा हुआ .....अरेरे! आपके पिताजी का स्वर्गवास हो गया.....यह बहुत ही खराब हुआ है।" ये और ऐसे शब्द सामने वाले अक्सर लिखते हैं। आप इन शब्दों पर अच्छी तरह से ध्यान दीजिए। मेरा यह कहना है कि जब आपने स्वर्गवास हुआ ऐसा अच्छा शब्द लिखा है फिर भी सामने वाला बहुत खराब हुआ,.....बूरा हुआ ऐसा क्यों लिखता है? क्या आपके पिता का जो स्वर्ग में वास हुआ है उसमें उसे विश्वास नहीं है? या

वह यह कहता है कि आपके पिता का स्वर्गवास हो ही नहीं सकता ? उसके शब्दों का भावार्थ क्या है ? हां यदि आपने नरकवास या तिर्यंचवास लिखा होता और उस ने प्रत्युत्तर में बहुत खराब हुआ" बुरा हुआ लिखा हो तो फिर भी उचित था। लेकिन आपके स्वर्गवास (स्वर्ग में वास) लिखने के बाद भी वह लिखता है कि "बहुत बुरा हुआ..... खराब हुआ"। इसका भावार्थ क्या ?

मैने भावार्थ का स्पष्ट अर्थ जानने के लिए एक बार एक प्रसंग पर एक सज्जन से पूछा कि–इसका क्या तात्पर्य है ? तो उसने जवाब में कहा–अजी महाराज वह तो आज–कल का लड़का है। बिचारा अपने बाप के बारे में वह क्या जानता है ? मैं और उसका बाप पक्के मित्र थे। हम साथ घूमते–जाते–आते–मिलते थे। उसके बाप ने क्या किया है ? कैसा काम किया है ? कहां क्या किया है ? किसके साथ क्या किया है ? आदि सब मैं अच्छी तरह जानता हूं। आज यह लड़का स्वर्गवास हुआ लिखता है तो पढ़कर मैं भी आश्चर्य चकित रह गया कि ऐसे आदमी का स्वर्ग में वास कैसे हो गया ? उसको स्वर्ग में जगह मिल ही नहीं सकती। कैसे स्वर्ग में चला गया ? मुझे तो विश्वास ही नहीं होता। इसलिए मैंने प्रत्युत्तर में पत्र लिखते हुए लिखा कि–"तुम्हारे पिताजी का स्वर्गवास हुआ है यह जानकर बडा भारी दुःख हुआ है, बहुत खराब हुआ है। बहुत ही बूरा हुआ।" उनका तो नरक में ही वास होना चाहिए था स्वर्गवास कहां से हो गया ? यह तात्पर्य और भावार्थ सुनकर मैं भी आश्चर्यचकित रह गया। यह लो आपने जिसको मित्र सगे-सम्बन्धी रिश्तेदार माना है वे ही आपको स्पष्ट जवाब दे देते हैं। किसी को भी आपके द्वारा लिखा हुआ स्वर्गवास शब्द मान्य नहीं है, पसंद नहीं है। इस तरह सभी के द्वारा स्वर्गवास ही लिखा जाय और सभी का स्वर्ग में ही वास होता हो तो तो फिर नरक–आदि गतियां खाली ही पड़ी रहती ! लेकिन नहीं वहां की संख्या भी बडी लम्बी चौड़ी है।

चार गति में जीवों की संख्या

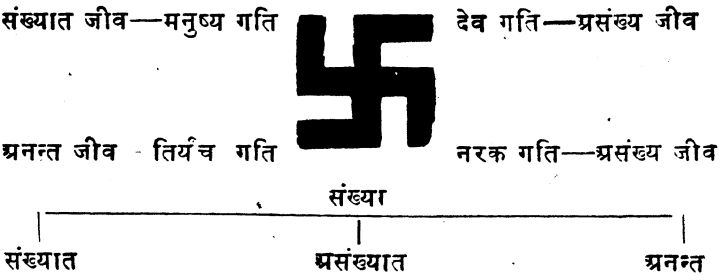

इस तरह तीन प्रकार की संख्या मानी गई है। (१) जो गिनी जा सके वह संख्यात है। (२) जो गिनती के बाहर हो वह असंख्यात है। (३) और जो अगणित हो वह अनन्त है। इन तीन संख्याओं की व्यवस्था चार गति में की गई है। (१) देव गति में असंख्य जीव हैं। (२) नरक गति में भी असंख्य जीव है। (३) तिर्यंच (पशु-पक्षी) की गति में अनन्त जीव हैं। (४) जबकि मनुष्य गति में सबसे कम संख्यात ही जीव है। संख्यात अर्थात् गिनती की जा सके उतनी सीमा तक है। तथा असंख्यात जहां गिनती दुरूह है, संख्यात की सीमा के बाहर की, परे की असंख्यात है। अनन्त तो जहां गिनती किसी भी स्वरूप में संभव ही नहीं है। असंभव है। वह अनन्त हैं। सभी का स्वर्गवास (स्वर्ग में वास) ही होता हो तो नरक गति में असंख्य जीवों की संख्या कहां से आइ? उसी तरह तिर्यंच गति में अनन्त जीवों की संख्या कहां से आइ? जीव तो चारों गति में परिभ्रमण करता है। किसी एक ही गति में स्थिर नहीं रहता है। एक गतिवाद किसी ने भी स्वीकारा नही है और स्वीकारा भी हो तो सुसंगत सिद्ध नहीं होगा।

एक गतिवाद की विसंगतता

यह जीव जिस योनि में जन्मा है उसी योनि में ही सदाकाल रहता है। पुनः पुनः मरकर फिर से उसी योनि में उसी स्वरूप में जन्म लेता है। अर्थात् भूतकाल में जैसा जन्म था मृत्यु के बाद भविष्य में वैसा ही जन्म मिलता है। यदि वह मनुष्य है तो मनुष्य ही बनेगा। घोड़ा मरकर घोड़ा ही बनता है। गधा मरकर गधा ही बनता रहेगा। चाहे वह हज़ार लाख या करोड़ों अरबों जन्म करे तो भी वह बार-बार घोड़ा ही बनेगा। गधा गधा ही बनेगा। ऐसी एक गतिवाद पक्ष की मान्यता हैं। इनका कहना है कि जीव का एक गति से दूसरी गति में गत्यन्तर-जात्यन्तर नहीं होता है।

प्रश्न ऐसा खड़ा होता है कि.....यदि घोड़ा मरकर पुनः घोड़ा ही बनता है तो प्रथम घोड़ा बना ही कहां से? अनादि काल से उस जीव का घोड़े के स्वरूप में ही अस्तित्व मानना पड़ेगा। और ऐसा मानेंगे तो वह जीव घोड़े के स्वरूप कैसे आया? कब आया? उस आत्मा का एकेन्द्रीय पर्याय से पंचेन्द्रिय पर्याय तक विकास हुआ कैसे? फिर तो उत्थान और पतन का सिद्धान्त ही समाप्त हो जाएगा। विकासवाद का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। दूसरी तरफ सीधा ही जीव पंचेन्द्रिय पर्याय में स्थलचर के रूप में कहाँ से आ गया? जबकि जीव की अनन्त संख्या पंचेन्द्रिय पर्याय में नहीं है। अनन्त गुनी संख्या एकेन्द्रिय पर्याय में है। एकेन्द्रिय

पर्याय से जीव का धीरे-धीरे विकास होता हुआ जीव अन्त में पंचेन्द्रिय पर्याय में आता है। आगे पंचेन्द्रिय पर्याय में मनुष्य में आना अन्तिम विकास है। विकासवाद समाप्त हो गया तो फिर किसी का मोक्ष भी नहीं होगा। कुछ भी नहीं! तो फिर धर्म-करना या कर्मक्षय करना सब कुछ निरर्थक हो जायेगा। संसार एक स्थिर स्वरूप में मानना पड़ेगा। फिर तो पाप-पुण्य निष्फल हो जायेंगे। पापकर्मानुसार कोई नरक में जाए और फल भोगे यह भी नहीं रहेगा। उसी तरह किए हुए पुण्यानुसार कोई स्वर्गादि स्वर्गादि देवगति में जायेगा यह भी नहीं रहेगा। तो फिर क्यों कोई पाप-पुण्य करेगा? स्वर्गवास लिखना भी निरर्थक होगा। मूर्खता होगी। इस तरह सैकड़ों विसंगतियाँ आयेगी। कर्मवाद भी नहीं रहेगा और ईश्वर कर्तृत्ववाद भी नहीं रहेगा। क्या करेगा ईश्वर? जबकि सृष्टिकर्त्ता और फलदाता दोनों स्वरूप में ईश्वर को मानने वालों ने माना है। परन्तु ऐसी स्थिति में ईश्वर की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। ईश्वर निष्क्रिय-निरर्थक सिद्ध हो जायेगा तो जगत् कर्तृत्ववादी के पास कोई उत्तर नहीं रहेगा। फिर प्रश्न यह उठेगा कि ऐसी नित्यभावमयी सृष्टि ईश्वर की निरर्थकता और निष्क्रियता में कैसे बनी? कब बनी? क्यों बनी? किसने बनाई? बनाई तो फिर प्रलय का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता! बनाई तो फिर क्यों पहले से किसी को एकेन्द्रिय में रखा और क्यों किसी को पंचेन्द्रिय में रखा? अच्छा जिसको पंचेन्द्रिय मनुष्य में भी रखा उसका भी स्थान वहां निष्फल है। करना-धरना तो कुछ नहीं। चूंकि परिवर्तन तो सम्भव ही नहीं है। फिर क्या करना है? क्यों करना है? ईश्वरोपासना भी करके क्या फायदा? अतः यह पक्ष सम्भव नहीं है। युक्तिसंगत नहीं है।

गणधरवाद में पांचवें गणधर सुधर्मास्वामी को अपने पूर्व काल में जन्म-जन्मान्तर सादृश्य की धारणा थी। यह उनका पक्ष था। वे वेद वाक्य का अर्थ ऐसा करते थे कि—**"पुरुषो मृतः सन् पुरुषत्वमेवाश्नुते, पशवः पशुत्वम्"** अर्थात् पुरुष मर कर परभव में पुरुष ही बनता है। पशु मरकर पशु ही होता है। कारण सदृश कार्य को मानने की विचारधारा वाला वह अग्निवेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण सुधर्मा था। लेकिन सामने दूसरा वेदवाक्य ऐसा आया कि—**"शृगालो वै एष जायते यः स पुरीषो दह्यते।"** जिसको मल सहित जलाया जाता है वह मरकर शृगाल रूप में जन्म लेता है। इस तरह परस्पर विरोधी वाक्यों के आने से विरोधाभास खड़ा हुआ है। परन्तु ऐसा नहीं है। कारण सदृश भी कार्य सदृश होता है और कारण से कार्य विचित्र भी होता है। कारण रूप में जीव के कर्म हैं अतः कर्मानुसारी कार्य होगा। जन्मानुसारी जन्म नहीं अपितु कर्मानुसारी जन्म होता है। अतः भवान्तर सादृश्य

का पक्ष युक्तिसंगत नहीं ठहरता, यह चर्चा सुदीर्घ है। गणधरवाद में से विशेष जानकारी प्राप्त करना उचित रहेगा।

तीर्थंकरों का गति परिभ्रमण

२४ तीर्थंकरों की भव भ्रमण संख्या भिन्न-भिन्न है। जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त किया तब से भव संख्या की गिनती करते हैं और निर्वाण प्राप्त करके मोक्ष में जाते हैं उस चरम भव तक भव संख्या गिनी जाती है। सम्यक्त्व नहीं पाये उसके पहले की भव संख्या गिनने जायें? तो वह अनन्त है। अनन्त की संख्या कहां गिनने जाएं? सम्भव भी कहां है? इसलिए सम्यक्त्व प्राप्ति के भव से निर्वाण प्राप्ति के चरम भव तक की भव संख्या गिनी गई है। २४ तीर्थंकरों में यह भव संख्या भिन्न-भिन्न है।

भगवान ऋषभदेव के १३ भव हुए हैं।
भगवान शान्तिनाथ के १२ भव हुए हैं।
भगवान नेमिनाथ के ९ भव हुए हैं।
भगवान पार्श्वनाथ के १० भव हुए हैं।
भगवान महावीर स्वामी के २७ भव हुए हैं।

अधिकांश तीर्थंकरों के तीन-तीन भव हुए हैं। परन्तु इन भव संख्याओं में गति परिभ्रमण देखा जाए तो सभी का भिन्न-भिन्न है। भगवान ऋषभदेव ने १३ भवों में सिर्फ २ गति में परिभ्रमण किया है। वे मनुष्य से देव और देव से पुनः मनुष्य इस तरह दो ही गति में रहे। १३ जन्मों में तीसरी किसी गति में नहीं गये। भगवान नेमिनाथ के भी ९ भव राजुल के सम्बन्ध में हुए हैं। नौ ही जन्मों में देव-मनुष्य की दो ही गति का आश्रय लिया है। भगवान पार्श्वनाथ ने एक जन्म तिर्यंच गति में किया है। १० भवों में दूसरा भव हाथी का हुआ। अतः पार्श्वनाथ भगवान १० जन्मों में तीन गति का स्पर्श करते हैं। चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी अपने २७ जन्मों में चारों गति में परिभ्रमण कर चुके हैं। प्रथम नयसार के जन्म में सम्यक्त्व प्राप्त करके अन्तिम २७वें भव में महावीर बनकर मोक्ष में गए। लेकिन बीच में चारों गतियों में जन्म किए हैं। १८वां भव त्रिपृष्ट वासुदेव (मनुष्य गति में) का जन्म। १९वां जन्म सातवीं नरक में नारकी का। २०वां भव तिर्यंच गति में सिंह का। २१वां जन्म पुनः नरक गति में ४ थी नरक में गए। २२वां जन्म मनुष्य का, २३वां जन्म मनुष्य का। २४वां जन्म देवगति का हुआ। इस तरह चारों गति में भटके हैं। भगवान महावीर ने २७ भवों में १४ भव मनुष्य गति में किए,

१० भव देवगति में किए, २ भव नरक गति में किए, और एक भव तिर्यंच पशु-पक्षी की गति में किया है। इस तरह १४+१०+२+१=२७ भव किये हैं। इस तरह चारों गति में गए हैं। तीर्थंकर की कक्षा का जीव और वह भी कर्मसत्ता के आधीन होकर अपनी २७ भव परम्परा में दो-दो बार नरक गति में जाकर आया है तो क्या हम आज दिन तक नरक गति में या तिर्यंच गति में गये ही नहीं हैं ? क्या हम हमेशा एक ही गति में रहे हैं ? नहीं, सम्भव ही नहीं है। क्या हम दो सद्गति में ही रहे हैं ? दुर्गति में गये ही नहीं ? सम्भव ही नहीं है। भूतकाल में हमारे और सभी के अनन्त भव हो चुके हैं। अनन्त जन्म-मरण करते हुए इस भव संसार में भटक रहे हैं।

अनादि–अनन्त भव संसार

प्रत्येक जीवमात्र का भूतकाल का संसार अनन्त काल से चला आ रहा है। सभी के अनन्त भव (जन्म-मरण) बीत चुके हैं। संख्यात या असंख्यात भव वाला कोई नहीं है। समस्त शास्त्रों में एक मरूदेवी माता के सिवाय ऐसा एक भी दृष्टान्त दूसरा नहीं मिलता है। सिर्फ संख्यात अर्थात् गिनती के ही भव हुए हों ऐसा आज एक भी जीव नहीं है। उसी तरह सिर्फ असंख्यात ही जन्म हुए हों ऐसा भी कोई जीव नहीं है। सभी जीवों के भूतकाल में अनन्त भव हो चुके हैं। इसमें भव की संख्या भी देखें तो अनन्त की है और काल की संख्या का, वर्षों की संख्या का विचार किया जाय तो वह भी अनन्त है। एक-एक जन्म ५–२५–५०–१००, १०००, लाख, करोड़ वर्षों का बीता है। अतः भव संख्या से भी बड़ी काल संख्या सामने आएगी। अतः शास्त्रकार महर्षि ने काल संख्या को समझने के लिए "अनन्तानन्त पुद्गल परावर्त काल" बताया है। अनन्त उत्सर्पिणीयां, अनन्त अवसर्पिणीयां बीत चुकी हैं। इतना ही नही, अनन्त कालचक्र भी बीत चुके हैं। इतना ही नहीं यह बहुत छोटी संख्या होगी, अतः अनन्तानन्त पुद्गल परावर्त काल बीत चुका है। हमारी आत्मा का अस्तित्व अनादि-अनन्त काल से है।

भव अर्थात् संसार, और भव अर्थात् जन्म-मरण। जन्म के बाद मृत्यु निश्चित है। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। अतः "जातस्य ध्रुवो मृत्यु" कहा गया है। संसार का स्वरूप ही जन्म-मरण का है। "जिस तरह जातस्य ध्रुवो मृत्यु" अर्थात् जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित कही गई है। उसी तरह संसार परिभ्रमण अवस्था में "मृतस्य ध्रुवो जन्म" कहना ही पड़ेगा। अर्थात् मरने के बाद जन्म निश्चित ही है।

इस तरह संसार में जन्म के बाद मरण, मरण के बाद पुनः जन्म, पुनः मृत्यु, पुनः जन्म पुनः मृत्यु यही क्रम अनादि काल से अनन्त काल से सतत् चल रहा है इसी का नाम है संसार। ठीक ही कहा है कि **पुनरेव जननं पुनरेव मरणं, पुनरेव जननी जठरे शयनम्** फिर से जन्म–फिर से मृत्यु, और फिर से माता की कुक्षी में जन्म लेना। पुनः पुनः वही गर्भावास की काली कोटडी की सजा उल्टे सिर लटककर भुगतनी। यह संसार का क्रम चला आ रहा है। संसार है वहाँ तक तो जन्म–मरण से कोई छुटकारा नहीं है। छुटकारा तो तब होगा जब मृत्यु के बाद पुनः जन्म नहीं लिया जाय। बस उसी का नाम है—मोक्ष। मोक्ष अर्थात् इस अनादि–अनन्त जन्म–मरण के संसार चक्र से छुटकारा। पुनः जन्म लें ही नहीं तो फिर मृत्यु का (मरने का) प्रश्न ही कहा आएगा ? अतः इस जन्म मरण के चक्र से छूटना ही मोक्ष है। आप चाहे मोक्ष शब्द से परिचित हो या न हो, मोक्ष का लक्ष्य रखें या न रखें परन्तु जन्म–मरण के चक्र से सदा के लिए छूटने का लक्ष्य रखें यही हमारा मोक्ष-भाव है। बात एक ही है।

संसार की अनादिता

मृत्यु क्यों हुई चूंकि जन्म था इसलिए, अच्छा, तो जन्म क्यों हुआ ? चूंकि मृत्यु हुई थी इसलिए, मृत्यु क्यों हुई चूंकि जन्म हुआ था इसलिए। इस तरह जन्म का कारण पिछले जन्म की मृत्यु और मृत्यु का कारण जन्म। इस तरह हम जन्म-मरण को एक दूसरे का कारण मानते जाएंगे तो अण्डे–मुर्गी के जैसी अनादिता सिद्ध होगी। हां बात सही है। जन्म–मरण भी अण्डे–मुर्गी की तरह अनादि काल से चलते ही आ रहे हैं। मुर्गी से अण्डा, अण्डे से मुर्गी, पुनः मुर्गी से अण्डा, पुनः अण्डे से मुर्गी। इस तरह अनादि परम्परा चलती ही जाएगी। इसका तो कहीं भी अन्त ही नहीं हैं। अन्त नहीं है इसीलिए तो अनन्त कहा जाता है। ठीक यही बात जन्म–मरण के बीच है। जन्म के बाद—मृत्यु, मृत्यु के बाद फिर जन्म। पुनः मृत्यु, पुनः जन्म ··· इस तरह अनादिता सिद्ध होगी और इस अनादि परम्परा का कहीं अन्त नहीं है अतः अनन्त कहा गया है। दोनों शब्द साथ में बोलने पर अनादि–अनन्त कहा जाता है। दूसरी तरफ जीव को अनादि काल से जन्म–मरण की इस परम्परा में परि-भ्रमण करते-करते काल भी अनन्त बीत चुका है इसलिए भी अनन्त कहा जायगा।

अपेक्षा दृष्टि से अनादि की आदि

अण्डे–मुर्गी में कौन पहले ? इसका उत्तर तो कभी भी नहीं मिल सकता। बीज और वृक्ष में भी वही बात है। उसी तरह जन्म-मरण का भी उत्तर संभव नहीं है।

परन्तु गत जन्म की स्मृति नहीं है इस अपेक्षा से आज के इस जीवन का जन्म सामने रखें तो जन्म पहले है और मृत्यु बाद में है। एक भव के बारे में सोचने पर पहले जन्म और बाद में मृत्यु स्पष्ट होती है। परन्तु परम्परा देखने पर अनन्त की गहराई सामने दिखाई देती है। और अनन्त का अन्त नहीं दिखाई देता इसलिए अनादि पक्ष भी सामने आता है। अब सोचिए कि जन्म–मरण क्या है ? किसके आधार पर है ? हम पुनर्जन्म **Rebirth** शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द है पुनर्जन्म–पुनः जन्म अर्थात् फिर से जन्म। पुनः शब्द 'फिर से' के अर्थ में हैं और जन्म का तो अर्थ स्पष्ट ही है। फिर से जन्म धारण करना या लेना ! अब बताइए जन्म लेता कौन है ? किसका जन्म होता है ? शरीर का कि आत्मा का ? क्या शरीर कभी पुनः जन्म लेता है ? नहीं। संभव ही नहीं है। मृत्यु के बाद हम शरीर को तो अग्नि में जलाकर भस्म कर देते हैं। फिर शरीर के जन्म का प्रश्न ही कहां उठता है ? नहीं जलाने वाले भी कबर बनाकर गाड देते हैं। गाडा हुआ शरीर भी सड़–गलकर नष्ट हो जाता है। अब सोचिए कौन जन्म लेता है ? मृत्यु के समय अस्पताल में खड़े रहते हैं। जन्म तो किसी का नहीं देखा लेकिन मौत के प्रसंग पर तो खड़े रहे हैं। डॉक्टर कहता है बस अब तो २४ घण्टे भी नहीं निकालेगा। सम्बन्धी वर्ग सावधानी से खड़ा रहता है। अन्त में मौत के समय क्या व्यवहार करते हैं ? कैसी भाषा बोलते हैं ?—जीव गया। बस अब जीव जाने वाला है। बस जीव जाएगा। जीव गया की भाषा अक्सर सुनते हैं। शरीर गया यह कोई नहीं बोलता। चूंकि शरीर तो सामने पड़ा है। शरीर कहां उडकर जाने वाला है ? उडने वाले पक्षियों का शरीर भी यही पड़ा रहता है। यद्यपि अदृश्य–अरूपी गुणवाला जीव आंखों से दिखाई नहीं देता फिर भी

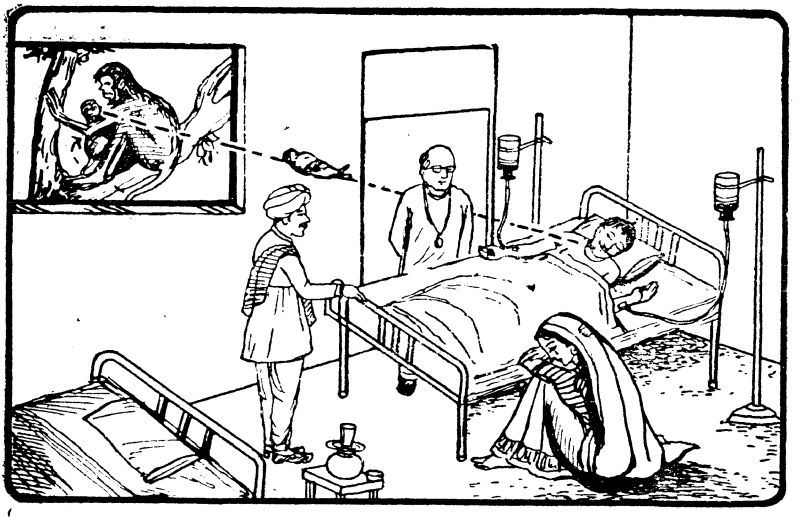

जिसके शरीर में रहने पर सुख-दुःख-हलन-चलन-बोलना-खाना-पीना आदि सारी क्रियाएं चल रही थी वह सब बन्द हो गई। अब मुरदा रहा है। अब सुख-दुःख कुछ भी नहीं सहन कर सकता। इसीलिए जला दिया जाता है।

अतः जीव जो गया है वही जन्म धारण करता है। "जीव गया" में गया—गम धातु का प्रयोग है। 'गया' शब्द आते ही कहाँ गया यह प्रश्न खड़ा होता है। किसी स्थान—क्षेत्र विशेष का उत्तर सामने आता है। किसी स्थान में गया होगा। किसी देश-नगर में गया होगा ' किसी अन्य गति में गया होगा। बस तो यही बात सत्य है। जीव स्वकर्मानुसार चार गतियों में से किसी भी गति में गया है। और वहां जन्म स्थान में जन्म लेता है। अतः पुनर्जन्म कहा जाता है। जीव ने फिर से किसी गति में जन्म लिया।

जीव को जाने में कितना समय लगता है ?

पुनर्जन्म—फिर से जन्म जीव का होता है। जीवात्मा अनादि अनन्त काल तक स्वस्वरूप में नित्य रहनेवाला द्रव्य है। अविनाशी शाश्वत पदार्थ है। विनाशी और अनित्य रहता तो कब का नष्ट हो चुका होता। लेकिन अनादि-अनन्तकाल के बाद भी जीव अपने स्वरूप में, अपने अस्तित्व में जैसा का तैसा रहा है। सुवर्ण-एक धातु है। उसके आभूषण बनते हैं। सभी आभूषणों में सोना मूलभूत धातु-(द्रव्य) है। चाहे आपने चेन बनाई-नहीं पसन्द आई गलाकर अंगूठी बनवाई फिर गलाकर मुकुट बनवाया फिर गलाकर कंगन बनवाया। इस तरह आप बार-बार आभूषण की पर्याय बदलते ही गए। लेकिन सोना नष्ट हुआ ? सोना बदला ? सोना मूलभूत धातु-द्रव्य है। वह नष्ट नहीं हुआ। ज्यों का त्यों ही रहा। पर्याय-आकृति बदलती गई। उसी तरह आत्मा मूलभूत द्रव्य है। शाश्वत-अविनाशी द्रव्य है। वही बारबार जन्म लेती है। एक बार घोड़ा बनी, मृत्यु के बाद हाथी बनी, वही पुनः देवगति में जाकर देव बनी, वही पुनः मनुष्य गति में जन्म लेकर मनुष्य बनी, वही आत्मा नरक गति में जाकर नारकी बनी। इस तरह चारों गति में ८४ लक्ष योनियों में जाती है। जन्म लेती है। इस तरह बार-बार-पुनः जन्म आत्मा लेती है। शरीर नहीं। शरीर तो आत्मा के लिए रहने का घर मात्र है। आधार स्थान है। शरीर एक आकृति-पर्याय है। जो आभूषण की तरह है। बदलती रहती है।

अब जब निश्चित है कि आत्मा ही जन्म लेती है। एक गति से—दूसरी गति में, एक जाति से दूसरी जाति में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक भव से दूसरे

भव में आना-जाना—आवागमन आत्मा करती है। प्रश्न यह है कि मृत्यु के बाद जीव को एक शरीर छोड़कर दूसरी गति में अपने गन्तव्य जन्मस्थान तक पहुँचने में कितना समय लगता है ? घर में कोई मरा—किसी की मृत्यु के बाद शव अभी घर में पड़ा है। अभी श्मशान यात्रा नहीं निकाली है। उसका बेटा कलकत्ता से कल सुबह तक आ जाएगा। अतः एक दिन, डेढ दिन तक शव पड़ा रखा है। अन्त्येष्टि नहीं की है। तो क्या तब तक एक दिन या डेढ़ दिन आत्मा रुकी रहेगी ? दूसरी गति में नहीं जाएगी ? जन्म नहीं लेगी ? नहीं ! आपकी अपनी धारणा चाहे जो भी हो जैसी भी हो जीव को यह नहीं देखना है। आप श्मशान यात्रा निकालो या न निकालो, जल्दी निकालो या देरी से निकालो। जलाओ या मत जलाओ। आत्मा को कोई संबंध नहीं है। जिस क्षण आत्मा ने देह छोड़ा उसी क्षण आत्मा रवाना हो गई। स्वोपार्जित कर्मानुसार जहां जन्म लेना है। उस गन्तव्य स्थान में पहुँच गई। जाने की इस क्रिया में आत्मा को कितना समय लगता होगा ? १-२ मिनिट या १-२ सेकेण्ड ? जी नहीं। द्रुतगामी पलक में जानेवाली आत्मा जो कि अदृश्य अरूपी है हम उसके बारे में क्या बतावें ? यह तो सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान का विषय है। अनन्तज्ञानी महापुरुष फरमाते है कि आत्मा को अपने दूसरे जन्म-स्थान तक पहुँचने में सिर्फ २-३-४ समय ही लगते है। समय यह काल की अंतिम इकाई है। परमाणु जैसे पुद्गल पदार्थ का सूक्ष्मतम अछेद्य, अभेद्य-अदाह्य स्वरूप है। अन्तिम इकाई है। उसी तरह काल भी अजीव पदार्थ है। दिन-रात-मास-वर्षादि काल के भेद-प्रभेद है। उसीका सूक्ष्मतम अभेद्य-अछेद्य अन्तिम स्वरूप है—'समय'। जो कालाणु की तरह में अंतिम इकाई है— वह समय कहलाता है। सर्वज्ञ भगवन्तों ने इनकी गणना करते हुए कहा कि आंख की पलक में अर्थात् आंख एक बार टिम-टिमाते हैं इतने में असंख्य समय बीत जाते हैं। एक बार की आंख की पलक में जो असंख्य समय बीत जाते हैं उसमें से २, ३ या ४ समय में आत्मा १ शरीर को छोड़-कर ४ गति में से किसी १ गति में निश्चित जन्मयोनि में पहुँचकर जन्म धारण कर लेती है। अर्थात् माता की कुक्षी में जन्म स्थान में स्थित होकर देहरचना आदि का कार्य प्रारम्भ कर देती है। सिर्फ इतने से समय मात्र काल में।

समय की सूक्ष्मता की कल्पना कीजिए "उदाहरणार्थ १००० पेज की पुस्तक को मशीन से पिन लगाते हैं। कितना समय लगता है ? मशीन से यह कार्य एक झटके में हो जाता है। उत्तर में १ सेकंड समय लगा। ठीक है। अब बताइए कि- १ पेज से दूसरे पेज में जाने के लिए उसी पिन को कितना समय लगा ? १ सैकण्ड में १००० पेज में पिन गई तो १ पेज से दूसरे पेज में जाने में १ सैकण्ड का हजारवां भाग काल लगा। सेकंड का हजारवां भाग समय कितना होता है ? इसके लिए

हमारे पास कोई एक शब्द नहीं है और न ही "मापक-यन्त्र"। अतः सैकंड का हजारवां भाग उत्तर देना पड़ा। और मानों कि हजार की जगह पर एक लाख की पेज संख्या होती तो क्या उत्तर देते? सेकण्ड का लाखवां भाग कहते। इस तरह कहां तक आगे बढ़ते? अन्त में काल की कोई निश्चित इकाई निकालनी पड़ेगी। वह सर्वज्ञ भगवन्तो ने बताई है। 'समय' को काल की अंतिम इकाई की संज्ञा दी है। जो एक बार आंख टिमटिमाने में असंख्य समय बीत जाते हैं उन असंख्य समयों में से सिर्फ २-३-४ समय जीव को अपने उपार्जित कर्मानुसार स्थान तक पहुँचने में लगते हैं। अतः कितना सूक्ष्मतम गणित है सर्वज्ञ महापुरुषों का? जहां हमारी बुद्धि के परे की बात है। वहाँ अनन्त ज्ञानी का ही प्रमाण असंदिग्ध रहता है। इतना अल्पकाल जीव को जाने में लगता है। इस तरह विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि कितने जन्म-मरण जीव ने धारण कर लिए होंगे?

जन्म-मरण क्या है?

जन्म-मरण क्या है? यह पूछने का प्रश्न नहीं हैं। सभी अच्छी तरह स्पष्ट जानते हैं। परन्तु शास्त्रीय भाषा में इसका उत्तर इस तरह दिया जाता है कि—जीव जिस गति में स्वोत्पत्ति स्थान में गया, वहां उत्पन्न हुआ। माता-पिता के रज-वीर्य का मिश्रित पिण्ड उस जीव को मिला वह लेकर वहां उत्पन्न हुआ। आहारादि ग्रहण करके देह निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। शरीर एवं इन्द्रियां बनाई। श्वासोच्छवास का कार्य प्रारम्भ किया। भाषा-मनादि की छ पर्याप्तियां पूर्ण की। इस तरह छ पर्याप्तियां पूर्णकर निश्चित काल अवधि तक वहां विकास पूर्ण कर योग्य समय में जन्म लिया। आत्मा का देह के साथ संयोग होना, या देह धारण करना ही जन्म है। तथा उसी आत्मा का उस देह में रहने का काल पूरा होने के बाद देह को छोड़कर चले जाना मृत्यु है। अतः आत्मा का देह संयोग-जन्म और देह वियोग मृत्यु है। जन्म से लेकर मृत्यु तक लम्बी एक रस्सी रखें तो उस रस्सी का पहला किनारा जन्म का है और अंतिम किनारा मृत्यु का है। अतः संसार चक्र में एक दिन जन्म का और एक दिन मृत्यु का है। जन्म से मृत्यु के बीच के काल को जीवन कहते हैं। किस जीव की काल अवधि कितनी है? यह उसके बांधे हुए आयुष्य कर्म पर आधारित है। यह जीवनडोरी है। अत्यन्त अल्प आयुष्य (जीवन काल) है। मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है। मृत्यु कब आएगी यह निश्चित नहीं है। "नित्यं सन्निहितो मृत्यु कर्तव्यो धर्म संचयः"। मौत सिर पर मंडरा रही है, मृत्यु सदा ही पास खड़ी है यह समझकर धर्म कार्य, आत्म कल्याण की साधना जो करनी है वह कर लेनी चाहिए ऐसा महापुरुषों का कथन है।

जीवों की खान–निगोद

जन्म–मरण का मुख्य केन्द्र आत्मा है। आत्मा के बिना जन्म-मरण का अस्तित्व भी नहीं रहता। जबकि जन्म–मरण अनादि–अनन्त काल से चल रहे हैं तो आत्मा का अस्तित्व भी अनादि–अनन्तकाल से हैं यह सिद्ध हो गया। जन्म–मरण का तो भूतकाल की अपेक्षा अनादित्व सिद्ध हुआ है और भूतकाल में भी भव संख्या अनन्त हुई है। लेकिन भविष्यकाल की अपेक्षा से विचारें तब मोक्ष में जाने के बाद जन्म–मरण की अनादि परम्परा का अन्त भी आ जाएगा। परन्तु आत्मस्वरूप के अस्तित्व में कोई न्यूनता नहीं आएगी। चाहे आत्मा संसार में रहे या मोक्ष में जाय। आत्मा स्वस्वरूप से स्वद्रव्य से नित्य शाश्वत–अजर–अमर, अनादि–अनित्य स्वरूप में ही रहेगी। आत्मा की उत्पत्ति नहीं है अतः अनादित्व है और अन्त (नाश) नहीं है अतः अनन्तत्व सिद्ध होता है।

जैसे सोना–चांदी–हीरा आदि कहां से आए ? कहां थे ? कैसे थे ? इत्यादि सोचते समय सोना खान से निकला, चांदी, हीरा आदि भी खान से निकले हैं। खान हीरे का मूल उद्गम स्थान है। वैसे ही सोना चांदी भी खान से निकले हैं। उसी तरह जीव कहां से आया ? कहां से निकला ? ये प्रश्न खड़े होते हैं। इसका उत्तर देते हुए–"जीव निगोद के गोले में से निकला" है ऐसा सर्वज्ञ प्रभु ने कहा है। अतः निगोद जीवों की खान हुई। सभी जीव निगोद के गोले में से निकले हैं। आए हैं यह शब्द रचना है। ऐसी वाक्य रचना का ही प्रयोग किया जा सकता है। उत्पन्न हुए हैं ऐसी शब्द रचना नहीं। चूंकि नित्य अनादि–अनन्त शाश्वत द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। जो उत्पन्न होता है वह नष्ट होता है। और जो नष्ट होता है वह उत्पन्न द्रव्य है जबकि आत्मा द्रव्य नष्ट नहीं होता है अतः अनुत्पन्न द्रव्य है। उत्पत्ति नहीं है। अतः अनादित्व सिद्ध होता है। और अन्त नहीं है अतः अनन्तत्व सिद्ध है।

निगोद स्वरूप

ऐसे अनुत्पन्न शाश्वत द्रव्य आत्म स्वरूप का निगोद के गोले में मूलभूत अस्तित्व स्वीकारा गया है उत्पत्ति नहीं। इसलिए निगोद को जीवों की खान कह सकते हैं। समस्त चौदह राज लोक स्वरूप ब्रह्मांड में असंख्य गोले भरे पड़े हैं। जिस तरह बच्चे साबुन के पानी को कागज के गोलरवैये में मुंह से खींचकर फूंक मार-कर हवा में उड़ाते है। उस समय गोल-गोल बुलबुले हवा में उड़ते हैं, तैरते हैं। कई लड़के मिलकर चारों तरफ से सैंकड़ों बुलबुले उडाने लगे तो वायु मण्डल-आकाश

भर गया सा प्रतीत होता है। यद्यपि वे टकरा कर फूट जाते है। टूट जाते है। हवा होती है वह वायु मण्डल में मिल जाती है और अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यह तो उदाहरण दिया है समझने के लिए। ठीक इसी तरह शास्त्रों में सर्वज्ञोपदिष्ट निगोद के गोले का स्वरूप बताया गया है।

बुलबुले के जैसे गोल-गोल गोले समस्त चौदह राजलोक के सम्पूर्ण आकाशमें भरे पड़े हैं। इतना लम्बा-चौड़ा असंख्य योजन विस्तार वाला आकाश, और इस आकाश में मानों काजल की डिब्बी में काजल दबा-दबाकर भरी हो वैसे ही ये गोले भरे हुए हैं। एक सूंई जा सके इतनी जगह भी दो गोले के बीच में खाली नहीं है। इतने ज्यादा गोले हैं। इन गोलों की संख्या सर्वज्ञ ने असंख्य बताई है। इसी को निगोद की संज्ञा दी गई है। अतः इन्हें निगोद के गोले कहा जाता है। इन गोलों में प्रत्येक गोले में अनन्त जीवों का निवास बताया है। एक-एक गोले में अनन्त-अनन्त जीव रहते हैं। ऐसे असंख्य गोले और एक गोले में जीवों की संख्या अनन्त-अनन्त है अतः सोचिए कि समस्त निगोद के गोलों में जीवों की संख्या कितनी हुई ? असंख्य का अनन्त—अनन्त से गुणाकार करिए। असंख्य×अनन्तानन्त=अनन्त अनन्त। यहां इन गोलों में जीव द्रव्य अपने मूलभूत स्वरूप में अपना अस्तित्व लिए हुए पडा है।

निगोद में जीवों का जीवन

जीवाजीवाभिगमसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, भगवतीसूत्र, जीवविचार प्रकरण एवं निगोदछत्रीशी आदि निगोद जीव विषयक वर्णन करने वाले प्रमाणभूत ग्रंथ है। काफी विस्तार से इसकी सूक्ष्मतम चर्चा-विचारणा की गई हैं। यहां हम संक्षेप में देखें—

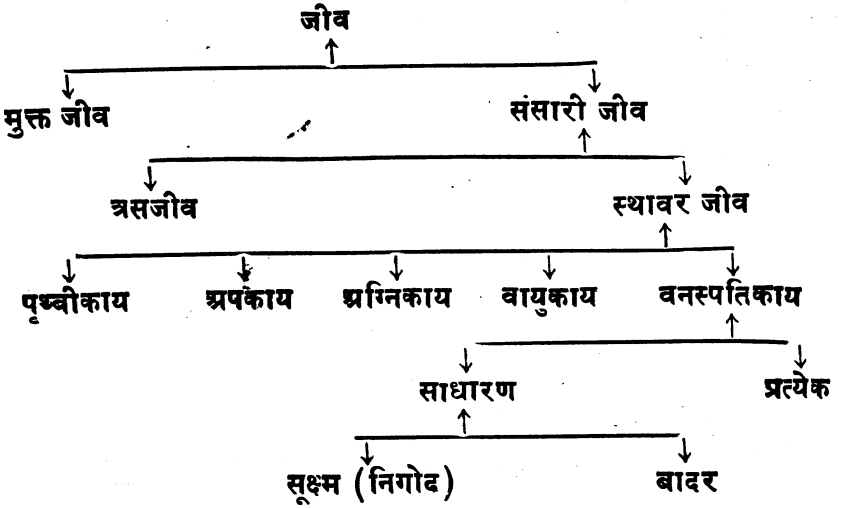

जीवों का वर्गीकरण करते हुए सर्व प्रथम मोक्ष में गए हुए मुक्त जीव बताए हैं जिनको सिद्ध कहते हैं। दूसरे संसारी जो मोक्ष में नहीं गए हैं ससार चक्र की चारों गतियों में ८४ लाख जीव योनियों में जो सतत परिभ्रमण कर रहे हैं। संसारी त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। दुःख से बचने के लिए जो गति आदि प्रयत्न कर सके वह हलन-चलन करनेवाला त्रस जीव कहलाता है। इससे विपरीत जो स्थिर स्वभावी है वह स्थावर जीव कहलाता है। दुःख से बचने के लिए स्वयं गति आदि प्रयत्न कर नहीं सकता व बच नहीं सकता वह स्थावर है। ये स्थावर जीव पांच प्रकार के है। पृथ्वीकाय के, अपकाय के, अग्निकाय (तेउकाय) के, वायु-काय के, और वनस्पतिकाय के जीव स्थावर है। ये सभी स्थावर जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। पहली सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय ही एक इन्द्रिय हैं। इनमें वनस्पतिकाय जीव दो प्रकार के हैं। (१) साधारण और दूसरे प्रत्येक। प्रत्येक जीव एक शरीर में एक ही रहते हैं। प्रति+एक=प्रत्येक, प्रति-शरीर में-एक जीव-वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कहलाता है। उदाहरणार्थ—आम-केला आदि। साधारण वनस्पतिकाय वाले जीव की व्याख्या इस तरह दी— "**जेसिमणंताण तणु एगा - साहारणा तेउ।**" जहां अनन्त जीवों को एक साथ इकट्ठा रहना पड़ता हो और रहने के लिए शरीर एक ही हो वे साधारण जीव कहलाते हैं। साधारण अर्थात् Common सभी के लिए समान—एक सरीखा हो वह साधारण है। अनन्त जीवों के लिए संयुक्त रूप से रहने के लिए एक शरीर है। अतः वह अनन्त जीवों के लिए एक सरीखा है, समान रूप से है। अतः साधारण कहा जाता है। उसे शरीर आहार जो भी मिले—जितना भी मिले वह भी अनन्त जीवों के लिए समान रूप से उपयोग में लेना है। उसी तरह श्वासोच्छवास भी सभी को एकसाथ लेना छोड़ना है चूंकि सभी के बीच में शरीर एक ही है। सुख-दुःख की संवेदना अनन्त जीवों को एक साथ ही अनुभव करनी है चूंकि शरीर एक ही है। एवं जन्म-मरण भी अनन्त जीवों का एक साथ ही होता है। चूंकि एक ही शरीर है। अतः ये साधारण कक्षा के वनस्पति कायिक जीव कहलाते हैं। जीवों की संख्या अनन्त होने से इन्हें ही अनन्तकाय भी नाम दिया है। ये जमीन में अधिकांश उत्पन्न होते हैं अतः लोक व्यवहार में इन्हें जमीकन्द (जमीन-कंद) के नाम से भी कहते हैं। बादर अर्थात् स्थूल स्वरूप में ये आलु, प्याज, लहसून, अदरक, शकरकन्द, गाजर, मूला, थेग की भाजी, पालक की भाजी आदि ३२ मुख्य प्रकारों से पहचानते हैं। अतः इनके भक्षण से सेवन से अनन्त जीवों की हिंसा होती है अतः शास्त्रकारों ने भक्षण निषेध किया है। बारिश में दिवारों पर लगी हुई काई शैवाल, हरे वर्ण की लील एवं पांच वर्णों की फूग ये भी अनन्तकाय है। सूक्ष्मतम जीव विज्ञान की वनस्पति-शास्त्र की यह बात है। अब रही बात सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय की। इसी का दूसरा नाम निगोद है। सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय

को ही निगोद के दूसरे नाम से कहा है संज्ञा दी है। अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अदृश्य गोले के रूप में इनका अस्तित्व चौदह राजलोक के समस्त ब्रह्मांड के कोने-कोने में स्वीकारा गया है। ये निगोद के गोले ही अनन्त जीवों की खान है।

निगोद के गोले का जीवन स्वरूप

इस निगोद की संज्ञा में असंख्य गोले हैं। जबकि एक गोले में जीवों की संख्या अनन्त है। इनका जीवन इसी गोले में ही रहता है। जन्म-मरण सतत एवं अविरत इसी गोले में होता है। निगोद में प्रतिक्षण जन्म लेना और प्रतिक्षण मरना यही सतत चलता रहता है। अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ भगवंतों ने बताया कि १ श्वास परिमित काल-अर्थात् हम सामान्य तौर पर १ बार श्वास लेते है-उसमें जितना समय लगता है उतने में गोले में रहे हुए ये निगोद के जीव १७$\frac{1}{2}$ भव करते हैं। अर्थात् १७ बार जन्म लेना और मरना तथा १८ वीं बार जन्म लेना पर मृत्यु होने से पहले श्वास का काल पूरा हो जाता है। इसलिए १७$\frac{1}{2}$ भव कहे जाते है। इनका न्यूनतम आयुष्य काल २५६ आवलिका का होता है। असंख्य समयों की एक आवलिका होती है। ऐसी २५६ आवलिका का एक लघुतम क्षुल्लक भव होता है। ऐसे १७$\frac{1}{2}$ भव हमारे १ श्वास लेने के काल में पूरे होते हैं। २ घड़ी अर्थात् ४८ मिनिट का जो अंतर्मुहूर्त का काल होता है उसमें ६५५३६ भव होते हैं। २५६ आवलिका का १ जन्म। और १ अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट (२ घडी) में १६७७७२१६ (१ करोड़, ६७ लाख, ७७ हजार, २१६) आवलिकाएं होती है। इतनी आवलिकाओं में निगोदीया जीव के ६५५३६ भव (जन्म-मरण) होते हैं। अर्थात् अब विचार कीजिए-सतत-अविरत जन्म-मरण के सिवाय वहां क्या रहा? जन्म लेना और मरना। जन्म लेना अर्थात् शरीर रचना करना-देह संयोग-फिर जीवन जीना और फिर मरना अर्थात् देह छोड़ना-देह वियोग। फिर वापिस उसी काय में जन्म लेना-फिर मरना...फिर जन्म लेना—फिर मरना। इस तरह अनन्त काल बीत गया। अनन्तकाल से जीव उस निगोद की अवस्था में गोले में पड़ा है। जन्मता है मरता है। सोचिए अनन्त काल में उस गोले में निगोदिया जीव के कितने जन्म हुए कितने मरण हुए। जबकि काल ही अनन्त वर्षों का बीता है तो जन्म-मरण तो अनन्त×अनन्त हुए हैं। न तो काल का अन्त और न ही भव संख्या का अन्त।

निगोद में भी जीव कर्म युक्त है

अब जब जन्म-मरण की बात आई तो यह कर्माधीन है। देह रचना की शरीर

बनाना, आहार, श्वोसाच्छवास, इन्द्रियां, सुख-दुःखादि के अनुभव की बात आई तो यह सब कर्म के आधीन है। अतः निगोद की मूलभूत अवस्था में भी जीव कर्म सयुक्त ही पड़ा है। अनन्तकाल से जीव निगोद में कर्मयुक्त ही है। सर्वथा जीव पहले कर्म रहित था और फिर कर्म लगे ऐसा मानने पर तो आपत्ति यह आएगी कि जीव निगोद में कर्मरहित था तो वहां मुक्त (कर्म मुक्त) था। सिद्ध था और फिर कर्म लगे, तो हमें निगोद में मोक्ष मानना पड़ेगा। जैसे सोना खान में पहले से था तभी से मिट्टी से मिश्रित था। कभी भी खान में मिट्टी से रहित नहीं था। अतः पहले सोना शुद्ध मिट्टी से रहित था और बाद में सोना अशुद्ध हुआ ऐसा भी नहीं कह सकते। चूंकि सोना कण-कण स्वरूप में मिट्टी के साथ मिश्रित ही था।

ठीक उसी तरह आत्मा निगोदावस्था में पहले से ही कर्म परमाणुओं से लिपटा हुआ ही था कभी भी प्राथमिक अवस्था में भी जीव कर्म रहित शुद्ध था ही नहीं। ऐसा न मानने से जीव को वहीं निगोद में ही मुक्त-सिद्ध मानने की आपत्ति आएगी। अतः निगोदावस्था भी संसारी सूक्ष्म स्थावर वनस्पतिकायावस्था ही है। सूक्ष्मपना, स्थावरपना ये स्थावर दशक की नाम कर्म की प्रकृतियां हैं। अतः संसारी जीव मात्र कर्मयुक्त ही है। तथा निगोद के गोले में पड़ा हुआ जीव भी कर्म बांधता है। यह निरीक्षण सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवन्तों का है। ऐसी सूक्ष्मतम अदृश्य निगोदावस्था में जीव ने अनन्त काल बिताया। अनन्त जन्म-मरण धारण किये। अनन्तानंत भव उसी अवस्था में उसी गोले में बिताए। वही अवस्था सभी अनन्त निगोद जीवों की समान है।

निगोद से बाहर निकलना

निगोदस्थ जीव का जो शास्त्रीय वर्णन किया गया है यह देखते हुए हम यदि विचार करें कि निगोद में से बाहर निकलने के लिए जीव क्या प्रयत्न करता होगा? जीव का अपना कोई प्रयत्न विशेष रहता होगा कि जो जीव को उस निगोद के गोले से बाहर निकाल सके? अच्छा यदि प्रयत्न–पुरुषार्थ करे तो भी क्या करे? कैसा प्रयत्न करे? जबकि निगोद का एकमात्र स्पर्शानुभव करने वाला एकेन्द्रिय कक्षा का सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय का स्थावर निकाय की भेद का जीव जो अव्यक्त अवस्था में पड़ा है; सिवाय जन्म-मरण करने के उसके सामने और है भी क्या? अतः वह स्वयं कोई ऐसा प्रयत्न नहीं कर सकता। हां आ पड़े दुःख को सहन करते हुए अकाम निर्जरा के बल पर कुछ अपनी भवितव्यता निर्माण कर सकता है।

अतः शास्त्रों में बताई हुई सिद्धांत की व्यवस्था इस प्रकार की है कि–चौदह

राजलोक स्वरूप अनन्त ब्रह्माण्ड के समस्त संसार में से जब कोई जीवात्मा संसार से मुक्त होकर मोक्ष में जाती है, तब एक जीव निगोद से बाहर निकलता है। यह अपरिवर्तनशील शाश्वत नियम है। अतः जगत की व्यवस्था ही इस प्रकार की बैठी हुई है। संसार में निगोद एवं मोक्ष के जीवों के बीच में सन्तुलन ही इस प्रकार का व्यवस्थित है कि जब एक जीव पुरुषार्थवश आगे बढ़े...कर्म निर्जरा करते हुए आगे बढ़े...वह तीर्थंकर नामकर्म बांधकर तीर्थंकर बने...धर्म तीर्थ की स्थापना करे, और उनके उपदेश से कोई जीव धर्मोपासना करके मोक्ष में जाय तब उसकी जगह एक जीव निगोद के गोले से निकलकर बाहर संसार के व्यवहार में आता है। इसी तरह दूसरा, तीसरा-चौथा .. संख्यातवां, असंख्यातवां तथा अनन्त जीव बाहर आते हैं। निगोद तो जीवों की खान है। वहां तो एक एक गोले में अनन्त-अनन्त जीव है और ऐसे असंख्य गोले हैं। अर्थात् निगोद तो कभी समाप्त होने वाली भी नहीं है। भले ही अनन्तानन्त काल भी बीत जाय। अतः एक बात तो यह सिद्ध हो गई कि मोक्ष में कितने जीव गए हैं ? अनन्त। निगोद से कितने जीव बाहर निकले हैं ? अनन्त। और संसार में कितने अभी भी परिभ्रमण कर रहे हैं ? अनन्त। ऐसा जरूरी नहीं है कि निगोद से बाहर निकले हुए सभी मोक्ष में चले गए हैं ? नहीं, निगोद से बाहर निकल कर मोक्ष में जाने के लिए भी अनन्त की यात्रा में प्रवास करना होता है। निगोद से बाहर निकला जरूर है परन्तु बाहरी संसार में ८४ लक्ष जीव योनियों में परिभ्रमण करता हुआ इसी चार गति के संसार चक्र में जीव अटक गया है। अतः निगोद में से निकले हुए सभी मोक्ष में नहीं गए है परन्तु जितने मोक्ष में गए हैं उतने जरूर निगोद से निकले है। यह वाक्य कहना युक्ति संगत सिद्ध होता है।

अरिहंत सिद्धों का अदृश्य उपकार

इससे एक बात यह सिद्ध हो गई कि हम निगोद में नहीं है। संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए ८४ लक्ष जीव योनियों में से आज अन्तिम मनुष्य जन्म में आए है। अतः यह तो निश्चित हो गया कि निगोद से बाहर निकलने के लिए किसी न किसी सिद्धात्मा का उपकार अवश्य है। मेरे समय कोई न कोई तो मोक्ष में जरूर गया ही था तभी तो मैं निगोद से बाहर निकल सका। अन्यथा अभी तक भी पड़ा ही रहा होता। मानों कि मोक्ष ही नहीं होता ? या कोई मोक्ष में गया ही नहीं होता तो कोई निगोद से बाहर भी नहीं निकला होता। अतः प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष रूप में ही सही मुझे और सभी को सिद्ध भगवन्तों का उपकार अवश्य ही स्वीकारना पड़ेगा। हां मेरे समय कौन सिद्ध बने थे ? मुझे नाम मालुम नहीं है। भले ही नाम मालुम

न हो। परन्तु सिद्ध हुए थे इसमें तो संदेह नहीं है। इसीलिए नमस्कार महामंत्र में किसी सिद्ध या अरिहंत भगवान विशेष का नाम नहीं दिया गया है। बहुवचनांत पद दिए गए हैं। वे गुणवाचक पद है। **"नमो सिद्धाणं"** पद से अनंत सिद्ध भगवंतो को मैं नमस्कार करता हूँ। अनन्त सिद्धों में मेरे समय हुए सिद्ध भगवन्त को भी नमस्कार हो गया तथा अनंत जीव संसार में है और सभी नमस्कार महामंत्र गिनें और सभी भिन्न-भिन्न नामोच्चार करते रहें तो मंत्र का स्वरूप कैसा बनेगा ? महामंत्र की शाश्वतता कहां से रहेगी ? अतः गुणवाची बहुवचनांत पद है। उन सभी अनंत सिद्धों को नमस्कार हो।

सिद्ध–माता, अरिहंत–पिता

बालक के लिए किसका महत्व है ? माता का कि पिता का ? कौन ज्यादा उपकारी है ? पुरूष वर्ग कहेगा पिता, और स्त्री वर्ग कहेगी–माता। लेकिन ऐसा भी नहीं है दोनों ही समानरूप से उपकारी है। कोई अरिहंत बना तभी तो कोई सिद्ध हुआ। अरिहंत ही नहीं हुए होते तो धर्मस्थापना कौन करता ? तीर्थ स्थापना कौन करता ? तो कोई जीव धर्म पाता ही कहां से ? और धर्म ही नहीं पाता तो कोई मोक्ष में जाता ही कहां से ? अतः अरिहंत पिता के स्थान पर प्रथम उपकारी है। तथा बाद में माता जिस तरह ९।। महिने अपने उदर में धारण करके प्रसवपीडा को सहकर भी संतान को जन्म देती है तभी तो बालक इस पृथ्वी पर अवतरता है। इसी तरह सिद्ध बनने वाले जीव ने हमको निगोद के गोले से बाहर निकाला अर्थात् बाह्य संसार में जन्म दिया। अतः सिद्ध परमात्मा मातृपद पर माता की तरह पूजनीय है। इसीलिए **"त्वमेव माता-पिता त्वमेव..."** हे भगवन् ! आप ही माता हो आप ही पिता हो...इत्यादि हम प्रभु को जो उपमा देते हैं वह यथार्थ ही है। मातृ स्वरूप में प्रभु सिद्ध परमात्मा और पितृ स्वरूप में प्रभु अरिहंत परमात्मा अनन्त उपकारी है। अब हमें अनन्त जन्म तक भी उनका उपकार नहीं भूलना चाहिए। माता ने तो ९।। महिने धारण करके जन्म दे दिया। परन्तु अनन्तकाल तक निगोद की एक गोले की काली अन्धकारभरी कोटडी में जो असह्य कल्पनातीत वेदना सहन कर रहे थे, अनन्त जन्म-मरण कर रहे थे उसमें से जन्म दिया है—बाहर निकाला है अतः सिद्ध परमात्मा तो माता से भी अनन्तगुने ज्यादा उपकारी है। अनन्त-अनन्त गुना ज्यादा उपकार हैं मुक्तात्मा का। भले ही वह हमारी आंखों के सामने प्रत्यक्ष स्वरूप न हो परोक्ष स्वरूप में ही हो परन्तु माने बिना स्वीकारे बिना नहीं चलेगा। चलना सम्भव ही नहीं है।

श्री नमस्कार महामंत्र का अनन्तबार जप-ध्यान-स्मरण करें तो भी हम इस

उपकार का ऋण कभी भी नहीं चुका सकते। सिद्ध परमात्मा के उपकार का शत-प्रतिशत संपूर्ण ऋण तो हम तभी चुका सकते हैं जबकि हम स्वयं सिद्ध बनकर किसी जीव को निगोद के गोले की अनन्तगुनी वेदना से मुक्त कराके बाहर निकालें। निगोद से उसे बाह्य संसार के धरातल पर जन्म दें। तभी सिद्ध परमात्मा के उपकार का ऋण चुकाया, समझा जाएगा। उसी तरह अरिहंत परमात्मा के अनन्त उपकार का ऋण भी तभी चुकाया समझा जाएगा। जब हम स्वयं एक दिन अरिहंत बनकर अनेक जीवों को धर्मोपदेश से तारें। उनका कल्याण करें। उन्हें मोक्ष-मार्ग पर लाएं। उन्हें सिद्ध बनाने में पुरुषार्थ करें। मोक्ष में उन्हें भेजने के मार्ग-दर्शक बनें। तभी अरिहंत के उपकार का ऋण चुकाया समझा जाएगा। अतः जो जो भी जगत में तीर्थंकर बने हैं हम उनका अनन्त उपकार मानें। उदाहरणार्थ भगवान महावीर तीर्थंकर अरिहंत बने तो कितना अच्छा हुआ? कितने भव्यात्माओं का कल्याण किया। कितने जीवों को मोक्षमार्ग की पटरी पर चढ़ाया। उनसे बोध प्राप्त कर कितने जीव मोक्ष में गए तो अच्छा ही हुआ। चूंकि उतने जीव निगोद से बाहर निकले। और कितने जीवों ने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया है? अर्थात् अरिहंत बनने का निश्चय किया। अतः उपकार भी द्विगुणित-त्रीगुणित-शत-गुणीत हुआ। यह कितना अच्छा हुआ। हमें इस विषय में प्रतिदिन अनुमोदना व्यक्त करनी चाहिए। प्रभु महावीरादि अनन्त तीर्थंकर अनन्त-अनन्त अभिवादन के योग्य है। अनंतबार वंदनीय-नमस्कारणीय है। हम उनका जितना उपकार मानें उतना कम ही है।

निगोद से निकले जीव की संसार यात्रा

किसी के मोक्ष में जाने से निगोद से बाहर निकला हुआ जीव अब अपनी संसार यात्रा का प्रारम्भ करता है। सर्वप्रथम वह जीव गोले से बाहर आकर सूक्ष्म स्वरूप से ऊपर उठकर बादर साधारण वनस्पतिकाय में कई जन्म धारण करता है। दिवाल पर की काई, फूलण, पंचवर्णी फूग–फिर आलु-प्याज, लहसून, गाजर, मूली, शकरकंद आदि इन सभी बादर (स्थूल) साधारण वनस्पतिकाय में जन्म धारण करता है। वनस्पतिकाय का चक्र पूरा करके आगे पृथ्वीकाय में पत्थर, मिट्टी, सोना–चांदी पीतल–लोखन आदि धातुओं में, पारा, फिटकरी, हिंगलोक, हरताल, सौवीरंजन आदि पृथ्वीकाय के अनेक जन्मधारण करता हुआ अपकाय में जाता है। अप=पानी, पानी का शरीर–जन्म धारण करता है। पानी की एक बूंद में असंख्य जीव इकट्ठे रहते हैं। सूक्ष्म या बादर साधारण शरीर में जहां एक शरीर में एक साथ अनन्त जीव रहते थे वह दुःख अब पानी में कम हुआ। और पानी में एक बून्द में एक

साथ असंख्य रहते हैं। अनन्त की संख्या से असंख्य पर आए अतः कितनी कम संख्या हो गई। और साधारण से जब प्रत्येक वनस्पतिकाय में जीव आता है तब बड़े आराम से एक शरीर में अकेला एक ही जीव रहता है। अपकाय में समुद्र में, नदी–नाले में, बरसात का पानी, ओस, झाकल, कुए, तालाब, इत्यादि पानी के रूप में कई जन्म बिताए। फिर आगे बढ़ा प्रत्येक वनस्पतिकाय में केला, सेव, नास्पाति, मौसंमी, सन्तरा, हरी वनस्पति में पेड़, पौधा, पत्ता, फल फूल में गया। हरी, तरकारियों में गया। संख्यात–असंख्यात जन्म यहां भी किए। आगे बढ़ता हुआ। तेउकाय (तैजसकाय) अर्थात् अग्निकाय में आया। ज्वाला के रूप में दीपक की लौ, भट्टी में, तिनके के रूप में, बिजली के रूप में अग्निकाय के कई जन्म धारण करके वायुकाय में प्रवेश किया। हवा के देह में जन्म लिया। वायु मण्डल में कई प्रकार की हवा बना। पुनः आगे प्रत्येक वनस्पतिकाय में आया। इस तरह एकेन्द्रिय पर्याय के इन पांचों स्थावर शरीरों में अनेक जन्म असंख्य जन्म-मरण यहां धारण किए।

आ.श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मंदिर

जीव की संसार यात्रा और आगे बढ़ी। थोड़ा ऊपर चढ़ा और जीव द्वीन्द्रिय दो इन्द्रिय वाले जीवों में आया। शंख, कौड़ी, सीप, भिन्न–भिन्न प्रकार के कृमि बना। हमारे पेट में कृमि–कीड़े के रूप में जन्म लिया। केंचुआ, तथा कई प्रकार के बेक्टेरिया के रूप में जन्म लिया। अब आगे बढ़कर जीव तेइन्द्रिय में आया। यहां तीन इन्द्रियों वाला शरीर मिला। चींटी, मकोडा, सिर पर जूं, शरीर पर सावा नामक जूं, अनाज के कीडे (धनेड़ा), भिंडी, मटर आदि में होने वाली लट (ईयल), खटमल, दीमक आदि के रूप में कई जन्म तेइन्द्रिय में किये। यहां से ऊपर उठकर आगे बढ़ता हुआ जीव चउरिन्द्रिय पर्याय में आया। चार इन्द्रिय वाला जीव बना। जिसमें मक्खी, मच्छर, भंवरा, तीड आदि के कई जन्म किये।

शास्त्रकार महापुरुष कहते हैं कि अनेक जन्मों की संचित पुण्याई के योग से जीव एक के बाद आगे की दूसरी इन्द्रिय प्राप्त करता है। ऐसा ही नहीं कि क्रमशः आगे चढ़ता ही जाय। गिर भी सकता है। वापिस दोइन्द्रिय पर्याय में जा गिरता है, पुनः चढ़ता है। पुनः एकेन्द्रिय में भी जा गिरता है। विकलेन्द्रिय में २–३–४ इन्द्रिय वाले जीवों की गिनती है। उनमें भी चढ़ाव–उतराव सतत् चलता है। चढ़ते भी हैं, और गिरते भी है। अन्तिम इन्द्रिय है पांचवी। अतः पंचेन्द्रिय पर्याय यह इन्द्रियों में अन्तिम है। अब जीव पंचेन्द्रिय पर्याय में प्रवेश करता हैं। जैन जीव विज्ञानानुसार पांच इन्द्रियों वाले जगत में चार प्रकार के जीव होते हैं। (१) तिर्यंच गति के पशु–पक्षी, (२) मनुष्य गति के मानव, (३) स्वर्ग के देवी-देवता, और (४)

नरक गति के नारकी जीव। चारों गति में ये चारों प्रकार के जीव पंचेन्द्रिय पर्याय वाले कहलाते हैं। अब चउरिन्द्रिय पर्याय से ऊपर उठकर जीव पंचेन्द्रिय पर्याय में सर्व प्रथम तिर्यंच गति के पशु-पक्षी के रूप में आकर जन्म लेता है। पशु-पक्षी भी तीन प्रकार में गिने जाते हैं। (१) जलचर, (२) स्थलचर, (३) खेचर। पहले जीव जलचर में जाकर मछली, मत्स्य, मगरमच्छ, कछूआ आदि बनता है। समुद्र में मछलियों की जातियां, आकृति भेदादि से लाखों प्रकार की है। तथा सख्या में समुद्री मछलियों की गिनती असम्भव है। उतने प्रकारों में जीव जाय और सभी जाति में जन्म करता हुआ जलचर में से स्थलचर में आने में असंख्य वर्षों का संख्यात जन्मों का काल बीत जाता है।

स्थलचर पर्याय में हाथी, घोड़ा, बैल, ऊंट, गधा, कुत्ता, बिल्ली, भैंस, भेड़-बकरी, शेर, सिंह, चीत्ता, भालू, रीछ, बन्दर, सांप, चूहा, छिपकली आदि में असंख्य वर्षों का काल यहा भी बिता देता है। खेचर=ख अर्थात्=आकाश। अकाश में उड़ने वाला पक्षी कहलाता है। इन जन्मों में--कौवा, तोता, मेना, कबूतर, चिड़िया आदि के सेकंडो जन्म धारण करता हैं। इस तिर्यन्च गति में पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी में भी गिरता-चढ़ता हुआ असंख्य जन्म-मरण धारण कर सकता है। इस तरह असंख्य वर्षों का काल बिता देता है। शेर-चीते आदि के कई हिंसक जन्म धारण कर अन्य पंचेन्द्रिय पशु-पशियों को मारने का पाप करके जीव नरक गति में जाता है। कितना अधःपतन हुआ? कितना जीव नीचे गिरा? वहां नरक गति में सागरोपमों अर्थात् असंख्य-अगणित वर्षों का काल बिता देता है। यहां से पुनः तिर्यंच गति में वापिस पशु बनता है। पुनः नरक गति में गिरता है। पुनः तिर्यंच में आता है, पुनः गिरता हैं। इस तिर्यंच से नरक और नरक से पुनः तिर्यंच में जीव कितने जन्म बिता देता है। कितना लम्बा काल पसार कर देता है। आप चित्र में देखेंगे तो पता चलेगा कि यहां से जीव वापिस नीचे गिरता हुआ चउरिन्द्रिय, तेइन्द्रिय, दोइन्द्रिय और यहां तक की पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में पृथ्वी-पानी, अग्नि-वायु-वनस्पतिकाय के भव करता है।

फिर उसी तरह वापिस ऊपर चढ़ने की यात्रा शुरू करता है। फिर क्रमशः एक-एक इन्द्रियों में जन्म धारण करता हुआ ऊपर आता है। यहां तक कि पशु-पक्षी में से ऊपर उठकर मनुष्य गति में मनुष्य बन जाता है। चाहे स्त्री बने या पुरुष आखिर दोनों ही है तो मनुष्य गति के जीव। मनुष्य गति में स्त्री-पुरुष के सिवाय तीसरी कोई पर्याय नहीं है। मनुष्य बनकर भी संसार के सैकड़ों पाप करता है। पुनः अधःपतन। नरक में जाता है। वहां से वापिस घोड़े-गधे के जन्म

धारण करता है। ४५ आगमों में ११वें अंग सूत्र विपाकसूत्रों में बताया गया है कि मनुष्य पर्याय में किए हुए भयंकर पापकर्मों के विपाक अर्थात् फल को भुगतने के लिए जीव नरक गति और वहां से भी तिर्यंच गति के भव धारण करता है। इतना ही नहीं भयंकर पापों के आधीन जीव को विकलेन्द्रिय में पुनः कीड़े-मकोड़े बनना पड़ता है। तथा इससे भी ज्यादा नीचे एकेन्द्रिय पर्याय में पुनः जाकर पेड़-पौधे के जन्म धारण करता है। इस तरह एक जन्म में किए हुए पापों की सजा भुगतता हुआ जीव असंख्य वर्षों का समय निकाल देता है। उदाहरणार्थ मृगापुत्र का जीव, उज्झीतक कुमार का जीव ब्रह्मदत्त का जीव, अंजुसुता का जीव आदि कई दृष्टान्त विपाकसूत्र के दुःख विपाक विभाग में दिये हैं। कितनी बार नरक गति में जीव जाता है। कितने जन्म तिर्यंच गति में पशु-पक्षी के बिताता है। और कितना नीचे गिरता है। यह है जीव के चढ़ाव–उतार की स्थिति।

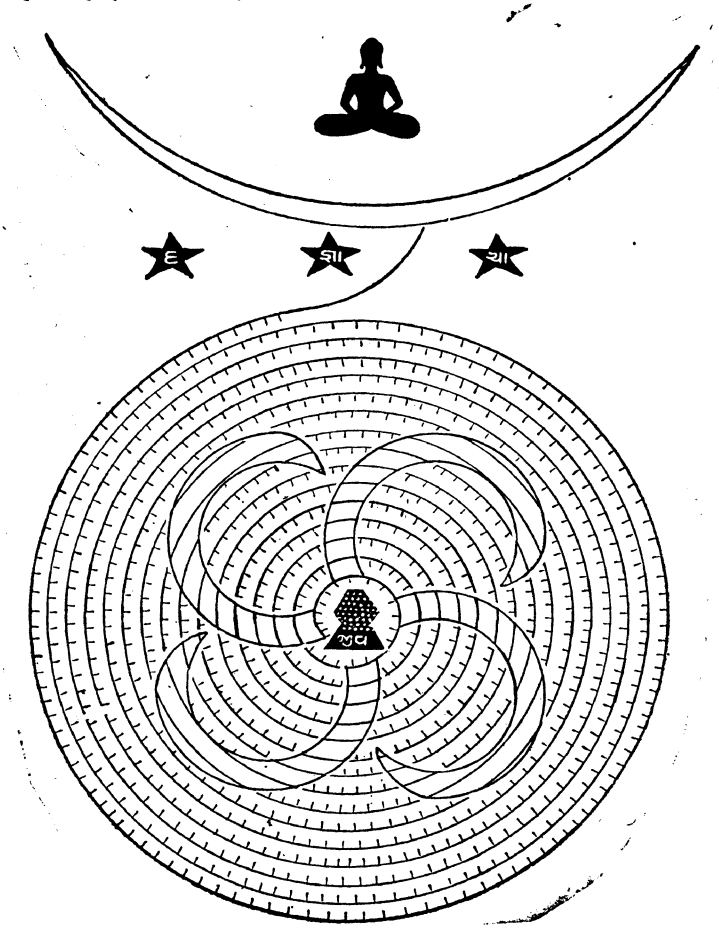

उत्थान और पतन तो संसार परिभ्रमण का स्वरूप है। बिना इनके संसार में भटकना नहीं होता। संसार चक्र में परिभ्रमण का जो यह चित्र बताया गया है इसमें जिस तरह एक के बाद दूसरे जन्म बताए गए है यह ध्यान से देखिए। जीव क्रमशः ऊपर चढ़ता-चढ़ता पंयेन्द्रिय पर्याय में भी मनुष्य गति में आया। मनुष्य जन्म में खाने-पीने के निमित्त भी महा भयंकर पाप करता है। मांसाहार-अण्डे आदि का सेवन करता है। उसी तरह इस पापी पेट को भरने के लिए अनन्तकाय का सेवन करता है। जानता है कि ये अनन्तकाय पदार्थ है। आलु, प्याज, लंसुन, अदरक, गाजर-मूली आदि अनन्तकाय अर्थात् साधाराण वनस्पतिकाय के स्थूल जीव हैं। एक बार के खाने से अन त जीवों की हिंसा होगी। अतः मैं इससे तो बचु यह भी दया नहीं है। वह क्या दया पालेगा ? कई भयंकर पापों के परिणाम स्वरूप तीव्र-मोह एवं भयंकर अज्ञान के कारण किए हुए पापों का परिणाम यह आता है कि जीव गिरकर पुनः निगोद के गोले में चला जाता है। जिस निगोद के गोले से बाहर निकलने में अनन्त काल बीत चुका था, जहां से अपनी ससार यात्रा प्रारंभ की थी आज वापिस वहीं जाकर गिरा। सोचिए अधःपतन की यह अन्तिम चरम कक्षा है। शास्त्रकार महर्षि तो यहां तक कहते हैं कि—मनुष्य गति में कोई दीक्षा लेकर साधु भी बन जाय और आगे बढ़कर चौदहपूर्वी - १४ पूर्वधारी ज्ञानी-परम गीतार्थ भी बन जाय वे भी पुनः निगोद में जा सकते हैं। कितने ऊपर से कितनी नीची कक्षा में पतन ?

सोचिए अब क्या हालत होगी ? फिर उस निगोद के गोले में जाकर उत्पन्न हुआ। दुःख क्या फिर वही चक्र ! फिर पलक भर में जन्म-मरण धारण करते ही जाओं अन्नतगुनी वेदना सहन करते ही जाओ। दूसरी बात यह है। अब निगोद के गोले से वापिस बाहर निकलने के लिए किसी के मोक्ष में जाने से निकलने का चान्स अब पुनः आए इस जीव को नहीं मिलेगा। निगोद के गोले में दो प्रकार के जीव हुए। एक तो वह जो पहले से निगोद के गोले में अनादि-अनन्तकाल से पड़ा ही था, जो बाहर निकला ही नहीं था उसे अव्यवहार राशि निगोद का जीव कहते हैं। तथा दूसरा वह जो निगोद के गोले से बाहर निकला था। संसार यात्रा में अगणित जन्म-मरण धारण करके वापिस निगोद में आया है, संसार परिभ्रमण का व्यवहार जो करके आया है उसे व्यवहार राशी निगोद जीव कहते हैं। निगोद के गोले में अन्य सब कुछ दोनों का समान हैं। परन्तु सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि--अव्यवहार राशी वाला निगोद जीव ही किसी के मोक्षगमन से बाहर निकल पाएगा। यह चान्स

उसे ही मिलेगा। चूंकि हकदार वही है। परन्तु जो पुनः आया है उसे यह मौका नहीं मिलेगा! किसी के सिद्ध बनने से छुटकारा पाने का मौका एक बार मिल चुका था। संसार की यात्रा का प्रवासी बन चुका था। तो फिर ऐसे पाप कर्म क्यों किये? क्यों वापिस इसी निगोद में आया? अतः अब पुनः वैसा मौका नहीं मिलेगा। यदि पुनः पुनः इन्हीं वापिस आये हुए को ही किसी के सिद्ध बनने से बाहर निकलने का मौका दिया जाय तो जो अनादि-अनन्त काल से निगोद के गोले में पड़े हुए हैं वे फिर कैसे बाहर निकल पाएंगे? उनका तो फिर नंबर ही नहीं लगेगा। वे तो बिचारे पड़े ही रहेंगे! अतः किसी के मोक्ष में जाने से नियमित और निश्चय रूप से पहले के अव्यवहार राशी वाले निगोद जीव ही क्रमशः बाहर निकलेंगे। ऐसा शाश्वत नियम है। अतः संसार यात्रा से बाहर के व्यवहार में भटककर पुनः निगोद में आए हुए जीव स्वयं अकाम निर्जरा-अनिच्छा से भी कर्म क्षय करके, बाहर निकलने योग्य योग्यता प्राप्त करें। काफी प्रयत्न-पुरुषार्थ करके बाहर निकलें, यह उन्हें स्वयं को करना है। ऐसी व्यवस्था सर्वज्ञानियों ने देखकर बताई है।

कितने चक्रों में कहां तक परिभ्रमण?

मानलो कि व्यवहार राशीवाला जीव पुनःस्व पुरुषार्थ विशेष से बाहर निकला। पुनः वह ऊपर चढ़ने के लिए उसी क्रम से उस प्रकार के एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय के भवों को करता हुआ आगे बढ़ा। फिर से तिर्यंच गति में—घोड़े-गधे, हाथी-ऊंट आदि के जन्म धारण करता हुआ मनुष्य गति में आया, देवगति में जाकर देवी-देवता बना। आखिर वह देवगति भी संसार चक्र की ही गति थी इसलिए स्वर्ग से भी मरकर पुनः पशु-पक्षी के जन्म में जाता है, या हीरे-मोती, सोने-चांदी में जाकर उत्पन्न होता है। फिर वही क्रम उसी तरह वापिस चढ़ो। इस तरह ८४ लक्ष जीव योनियों में जाता हुआ, चारों गति में पांचों जाति में—अर्थात् पांचों इन्द्रियों में भिन्न भिन्न जन्म-मरण करता हुआ कितने चक्र पूरे कर चुका है? इस प्रश्न के उत्तर में केवलज्ञानी भगवान भी यही शब्द कह सकते हैं कि--अनन्त चक्र कर चुका है यह जीव तथा काल की दृष्टि से अनंत पुद्गल परावर्त काल बिता चुका है। तैली के बैल की तरह घूमता ही जा रहा है। घड़ी के कांटे की तरह अविरत सतत गोल-गोल घूमता ही जा रहा है। इन अनन्त चक्रों वाले संसार चक्र का कहीं अन्त ही नहीं है। अन्त जीव को अपने जन्म-मरणों का लाना होगा। इस विषय में एक उपमा का दृष्टान्त है वह रूपक देखिए--

भूतकाल के भवों की गिनती—

किसी एक जीव ने सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान से अपने खुद के भूतकाल के

भवों की संख्या के बारे में प्रश्न पूछा। हे प्रभु ! निगोद से निकलकर आज दिन तक इस भव तक मैने कितने भव किये होंगे ? कितना काल बीता होगा ? कैसे कैसे भव किये हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए केवलज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया कि— हे जीव ! तूने इतने अनन्त जन्म धारण किये हैं कि उन सबको कहने जितना तो मेरा आयुष्य काल भी नहीं है। कैसे कहुँ ? बात भी सही है। अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु त्रिकाल ज्ञानी है। यद्यपि अपने अनन्त ज्ञान से तीनों काल की बातें एक ही समय एक साथ जानते हैं, केवल दर्शन से एक साथ देखते भी हैं। परन्तु मुंह से कहना हो तो क्रमशः एक के बाद एक ही कह सकेंगे। एक साथ सब तो कहना संभव भी नहीं है। चूंकि शब्द तो एक के बाद एक ही निकलेंगे। इस तरह से एक-एक जन्म का सिर्फ नाम निर्देश भी करें तो भी वे सभी भव कह नहीं पाएंगे। क्योंकि आयुष्य काल सीमित है।

अतः रूपक उपमा से कल्पना के बल पर समझिए कि केवलज्ञानी का एक हजार वर्ष का आयुष्य काल हो. जैसे रावण के दस मुंह की कल्पना की गई है उस तरह सर्वज्ञ के मानों एक हजार मुंह भी हों और प्रत्येक मुंह से नाम निर्देश मात्र करते हुए १ मुंह से १ भव का उल्लेख मात्र ही करें और आगे कहते ही रहें तो १ सेकंड में कितने भव कहे ? १ सेकंड में १००० भव कहे। तो १ मिनिट में कितने ?—६०००० भव कहे। तो १ घंटे में कितने भव कहे ?……—… इस तरह १ दिन में कितने भव कहे ?…—……इस तरह एक महिने में कितने भव कहे ? १ वर्ष में किनने भव कहे ? उसी तरत १०० वर्ष में कितने भव कहे ? बिल्कुल रूके बिना धारा प्रवाहबद्ध अविरत कहते ही जाय तो १००० वर्ष में कितने भव कहें ? सुनने वाला थक जाता है और प्रभु से पुछता है-हे भगवान ! अब कितने कहे और कितने कहने और शेष हैं ? इसके उत्तर में केवलज्ञानी भगवान कहते हैं कि—मेरा तो आयुष्य समाप्त होने आया है। परंतु मैंने जहां तक तेरे भव कहे हैं उसके आगे कोई दूसरे केवलज्ञानी जो मेरे ही जैसे हजार मुंह और हजार वर्ष के आयुष्य वाले हो वे आगे तीव्र गति से कहते ही जाय और उनके आयुष्म की समाप्ति के बाद पुनः तीसरे, पुनः चौथे, पांचवें, पच्चीसवें, पचास, सौ, पांच सौ, हजार, केवलज्ञानी बिना रूके क्रमशः नाम निर्देश मात्र करते हुए द्रुतगति से कहते ही जाय……तो……इस बीच सुनने वाले ने पूछा हे कृपानाथ ! अब आप यह तो बताइये कि कितने भव कहे और कितने कहने शेष रहे ?

इस प्रश्न के उत्तर में अल्पज्ञ को सर्वज्ञ प्रभु क्या उत्तर दें ? कैसे समझाएं ? एक शब्द में कहें तो भी कैसे कहें ? अनन्त भव कहें और अनन्त भव अभी कहने शेष

हैं। तो भी स्पष्ट नहीं होता। अतः उत्तर को दृष्टान्त से देते हुए कहते हैं कि—मानों एक द्वीप के चारों तरफ समुद्र हो, उसके बाद पुनः द्वीप पुनः समुद्र पुनः द्वीप इस तरह असंख्या द्वीप–समुद्र हो। उसमें भी एक के बाद क्रमशः दूसरा दुगूना हो। तो अन्तिम असंख्यातवां समुद्र कितना बड़ा–लम्बा–चौड़ा होगा? वह भी शायद असंख्य योजन परिमित विस्तार का होगा। उस समुद्र के किनारे एक चिड़िया पानी पीने आई हो और उस चिड़िया ने जितना पानी पिया है उतने ही सिर्फ तेरे भव कहे हैं और सारे समुद्र का जितना पानी पीना शेष है उतने तेरे भव कहने शेष है।

सर्वज्ञ भगवान के उत्तर के इस काल्पनिक रूपक से अल्प कल्पना लगाइये कि एक–एक हजार वर्ष के आयुष्यवाले हजार केवलज्ञानियों ने अविरत इतने भव कहने के बाद भी कितने थोड़े भव कहे हैं? कितने थोड़े अल्प भवों की संख्या का भावार्थ दिखाने के लिए—"चिडिया ने जितना पानी पिया है उतने तेरे भव कहे हैं।" ये शब्द प्रयुक्त किये हैं। चिडिया का शरीर कितना है? वह पी–पीकर भी कितना पानी पी सकती है? मनुष्य के जितना तो नहीं। सिर्फ थोड़े से भव कहे है। तथा "आगे अभी और कितनी भव संख्या कहनी शेष है? यह दिखाने के लिए रूपक के रूप में—"जितना समुद्र का पानी पीना शेष है उतने भव कहने शेष है" ये शब्द प्रयोग में लाए हैं। अब आप सोचिए—कितने भव इस जीव ने भव संसार में किये होंगे? यही हमारे सबके विषय में है। हमारी सभी की भूतकाल के भवों की यही दशा है। इतनी लम्बी संख्या है। अरे जो संख्या में कभी भी समा नहीं सकती। उसमें भी यह तो भूतकाल के भवों की संख्या के विषय की बात है। भविष्य के भवों की संख्या का क्या हाल है? वह और दूसरे दृष्टांत से देखें।

भावि भव संख्या

एक बार की बात है दो भाईयों ने किसी सर्वज्ञानी भगवान को अपनी भव संख्या के बारे में पूछा—हे प्रभु! अब संसार से मुक्त होकर मोक्ष में जाने लिए हमारे कितने भव (जन्म) शेष रहे हैं? कितने भवों बाद हम मोक्ष में जाएंगे? अब हमें संसार में कितने भव तक भटकना है? केवलज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु ने उत्तर देते हुए फरमाया कि—छोटा भाई सात भव में मुक्त होगा और बड़ा भाई अभी असंख्य भव करेगा। यह सुनकर दोनों भाई चले गए। अपने मन में सोचने लगे अरे बाप रे! मुझे अभी और असंख्य जन्म इस संसार में करने पड़ेंगे? अरेरे! क्या करूं? ऐसा सोचते हुए बड़े भाई ने मन से संकल्प किया कि अब जिंदगी में किसी भी प्रकार का पाप नहीं करुंगा। तप–तपश्चर्या शुरू की धर्माराधना शुरू करदी। तन–मन से बहुत ही कड़ी तपश्चर्या शुरू की। असंख्य भव अभी मुझे और करने पडेंगे...अरेरे!

इस संसार में अभी असंख्य भव और भटकना पडेगा। इन शब्दों ने इस आत्मा को भवभीरू—पापभीरू बना दिया। महापुरुषों ने धर्म करने योग्य व्यक्ति की योग्यता इन दो शब्दों से प्रकाशित की है। जिसमें भव भीरूता और पापभीरूता हो अर्थात् जो संसार में होने वाली जन्मसंख्या से डरनेवाला हो अब मुझे संसार में ज्यादा नहीं रहना है ऐसा भाव जागृत हो गया हो वह जीव धर्म के लिए पात्र कहलाता है। उसी तरह पाप से डरने वाला अर्थात् पाप से बचने वाला पाप भीरू जीव ही धर्म करने के लिए लायक है। पात्र है। धर्मी बनने के लिए ये दो भाव तो आवश्यक है। इस भाव से बड़े भाई ने एक तरफ पाप करने बन्द कर दिये और दूसरी तरफ पुराने किये हुए पापों का क्षय करने के लिए उग्र तपश्चर्या और धर्माराधना शुरू करदी।

धर्मोपासना करते हुए हमारे सामने दो ही लक्ष्य बड़े रहने चाहिए। एक तो नए पाप नहीं करना। निष्पाप जीवन जीना। पाप से सर्वथा बचना! और दूसरा है आज दिन तक भूतकाल में किये हुए पापों का क्षय करना। इन्हीं दो लक्ष्यवाला धर्मी सच्चा आराधक कहलाएगा। श्री नमस्कार महामन्त्र में "सव्व पावप्पणासणो" का जो सातवां पद दिया है वह साध्य पद है। महामन्त्र जपते समय हमारा उद्देश्य क्या होना चाहिए? उसके लिए कहा कि— सर्व पापों का नाश हो जाय ऐसी भावना रखनी चाहिए। उसी तरह यह पद फल का भी अर्थ दिखाता है। इन पांच परमेष्ठिओं को किए गए नमस्कार के फल के रूप में मेरे पाप कर्म नष्ट हो ऐसी भावना रखनी चाहिए। इस धारणा को छोड़कर दूसरी स्वार्थी सांसारिक धारणा नहीं रखनी चाहिए।

बड़े भाई ने पाप नाश की भावना से तीव्र धर्म साधना शुरू करदी। लेकिन छोटे भाई को सिर्फ ७ ही भव शेष है। इतनी छोटी संख्या सुनकर अभिमान आ गया। बस सिर्फ सात ही भव शेष हैं और वह भी अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ का वचन है। अतः इसमें तो शंका ही नहीं है। और न ही संख्या कम ज्यादा होगी। निश्चित रूप से सात ही भव होंगे। सातवें भव में मै मोक्ष में निश्चित रूप से जाने ही वाला हुं। सात के आठ भव तो होने वाले ही नहीं है। फिर क्या है। अच्छा यदि आज मैं कितना भी धर्म करूं तो भी क्या फायदा? आज इस जन्म में तो मोक्ष होने वाला ही नहीं है। ७ भव तो होंगे ही होंगे। अतः आज से धर्म करके भी क्या करूं? इतना सब कुछ खाने-पीने के लिए मिला है। सुख–शांति–शौख–अमन–चमन–भोग विलास सब कुछ मिला है यह छोड़कर भूखे रहकर तपश्चर्या आज से ही क्यों करूं? सात के आठ भव तो होने वाले ही नहीं है और मोक्ष भी सातवें भव में ही होने वाला है तो फिर आज से धर्म क्यों करूं? उसने दुनिया भर के पाप

करने शुरू कर दिये। भोग-विलास में मस्त हो गया। "खाओ-पिओ और मौज करो" का सिद्धांत अपना लिया। जीवन स्तर गिरता गया। धीरे-धीरे हिंसा-झूठ-चोरी-दुराचार-व्यभिचार आदि सभी पाप आ गए। पाप की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही है। एक पाप दूसरे पाप से जुड़ा हुआ है। जैसे मानों जंजीर की तरह। अतः एक पाप के पीछे दूसरा, दूसरे के पीछे तीसरा, तीसरे के पीछे चौथा पाप आकर खड़े हो जाते हैं। इस तरह अठारह ही पाप आ जाते हैं। छोटे भाई का जीवन ही बदल गया। पूरा पलट ही गया। दोनों बदल गए। एक अधर्मी से पूरा धर्मी बना, और दूसरा धर्मी से अधर्मी बना।

संख्या का आश्चर्यकारी गणित—

कुछ वर्षों बाद वे ही केवलज्ञानी महात्मा पुनः मिले। दोनों भाई पुनः पूछने गए। हे कृपानाथ! आपने हमारी भावि भव संख्या के बारे में पहले भी बताया था। बड़े के असंख्य भव तथा छोटे के ७ भव। हे प्रभु! आप तो त्रिकालज्ञानी है अतः आपका वचन बदल तो नहीं सकता है। परन्तु प्रभु फिर भी हमारे मन में थोड़ी द्विधा है। अतः पुनः कहिए। केवली प्रभु ने कहा कोई फरक नहीं है। संख्या जो मैने बताई है वही रहेगी। दोनों भाईयों ने अधिक स्पष्ट करने के लिए पुनः पूछा कि हे प्रभु! अब यह बताइये कि दोनों में से कौन पहले मोक्ष में जाएगा? ७ भव वाला कि असंख्य भव वाला? ऐसा प्रश्न पूछना भी मूर्खता है ऐसा हमको हमारी दृष्टि से लगता है। हम सभी सोचते हैं तो सीधा स्पष्ट दिखाई देता है कि—७ भव वाला पहले मोक्ष में जाएगा और असंख्य भव वाला काफी बाद में जाएगा। यह तो दीपक की तरह स्पष्ट बात है इसमें क्या पूछना? लेकिन हम अल्पज्ञ है। हमने हमारी अल्प बुद्धि से यह उत्तर ढूंढ निकाला है। परन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी का उत्तर कुछ और ही था। उन्होने अपने अनन्तज्ञान से देखते हुए स्पष्ट कहा कि असंख्य भव वाला बड़ा भाई तो पहले मोक्ष में जायेगा, बहुत जल्दी ही मोक्ष में जायेगा। परन्तु ७ भव वाला छोटा भाई बहुत देरी से बाद में मोक्ष में जायेगा।

यह सुनकर छोटे भाई के तो होंश खोंश उड गए। पूछा क्योंजी महाराज! यह कैसे सम्भव है? बात तो सीधी दिखाई देती है कि ७ भव ही छोटी संख्या है, और असंख्य भव तो बहुत बड़ी संख्या है। तो फिर असंख्य भव वाला पहले कैसे मोक्ष में जा सकता है? इस विषय में केवलज्ञानी महापुरुष ने बताया कि संख्या में तो छोटी-बड़ी की बात तुम्हारी सही है। लेकिन भव कितने बड़े और कितने छोटे यह तुमने नहीं सोचा। तुम्हारे ७ भव इतने बड़े-बड़े दीर्घायुष्य के होंगे और असंख्य

भव वाले के जन्म छोटे-छोटे होंगे। उदाहरणार्थ तुम इतने भयंकर पाप कर्म कर रहे हो कि यहां से ७वीं नरक में जाकर ३३ सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य पाओगे। १ सागरोपम=असंख्य वर्ष होते हैं, ऐसे ३३ सागरोपम का काल तो सिर्फ १ भव में बीतेगा। जबकि बड़ा भाई कृमि-कीट-पतंग की योनि में जाकर अल्पायु के छोटे-छोटे असंख्य भव कर लेगा। इस तरह तुम्हारे भयंकर पापों के कारण तुम जो ७ भव बड़े-बड़े लम्बे आयुष्य वाले करोगे इसके पहले तो असंख्य भव बड़े भाई के पूरे भी हो जाएंगे और वह मोक्ष में भी चला जाएगा और तुम संसार में ही भटकते रहोगे। अन्त में सातवें भव में भान आएगा और सभी पाप कर्मों का क्षय करोगे तब मोक्ष में जाओगे।

सर्वज्ञ केवली प्रभु का यह गणित कितना गूढ़ और रहस्य से भरा हुआ है सोचिए। हमने तो अपनी अल्प बुद्धि से विचार किया था। इसीलिए अल्पज्ञ को सर्वज्ञ बनने की साधना करनी चाहिए। अपूर्ण को पूर्ण बनने की साधना करनी चाहिए। इसी तरह अज्ञानी को ज्ञानी, रागी-द्वेषी को वीतरागी और संसारी को मुक्त, तथा पापी को निष्पाप, सकर्मी को कर्म रहित बनने की साधना करनी चाहिए। इसी उद्देश्य से धर्माराधना करनी चाहिए। साध्य भी यही और भाव भी यही रखें। साध्य के अनुसार एवं अनुरूप साधना होनी चाहिए। तो ही इष्ट फल प्राप्त होता है।

संसार मुक्ति का साध्य

चार गति सूचक स्वस्तिक के मंगल चिन्ह से हमें बहुत कुछ सीखना है। इसीलिए भावना के आधार पर जोड़कर एक द्रव्य निमित्त बनाकर द्रव्य पूजा में—अष्टप्रकारी पूजा में यह अक्षत पूजा में एक प्रकार के रूप में रखा गया है। हमें पहले चार गति का सूचक स्वस्तिक 卐 बनाना चाहिए। द्रव्य भाव में प्रबल सहायक निमित्त बनता है। यह भाव रखें कि हे प्रभु! इस चार गति के संसार में मैं खूब भटक चुका हुँ। चार गति में अनन्त जन्म-मरण करते हुए अनन्त भव कर चुका हुँ। यही संसार चक्र है। इससे मुक्त होने के लिए आज इस अन्तिम मनुष्य गति में आकर आपके चरणों में आया हुँ, आपकी शरण में आया हुँ। ऊपर की जो तीन ∴ (ढगली) बिन्दीयां बनाते हैं वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र की है। यही आत्म धर्म है। और यही मोक्ष का मार्ग है। तत्वार्थाधिगम सूत्र में कहा है कि—**"सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"**। अर्थात् सम्यग्=सही=सच्चा दर्शन, ज्ञान और चारित्रादि मोक्ष प्राप्ति का सही मार्ग है, सही धर्म है। अतः चार गति के संसार चक्र से छूटने के लिए अब जीव मनुष्य गति में आकर इन दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि धर्म (मार्ग) की

सच्चो उपासना करे तो सदा के लिए चारों गति का अन्त करके ऊपर उठकर सीधा ⌣ मोक्ष में जाता है। ⌣ यह सिद्धशिला कही जाती है। चौदह राजलोक के अग्र भाग पर ऐसी ४५ लाख योजन विस्तार वाली लम्बी सिद्ध शिला है। जहां अनन्त सिद्ध भगवंतो का वास है। यही मोक्ष कहलाता है। यहां गया हुआ जीव पुनः संसार में नहीं लौटता। जीव मोक्ष में गया, मुक्त हुआ, सिद्ध हुआ अर्थात् सर्व कर्म से सदा के लिए मुक्त हुआ। सदा के लिए जन्म-मरण के संसार चक्र से छुटकारा पाया।

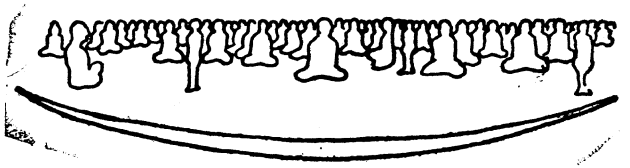

चार गति के परिभ्रमण से सदा के लिए छूटकारा पाया। शरीर के संयोग से सदा के लिए छूटकारा पाया। यह मोक्ष ऐसा है। अतः इसी क्रम से चावल का स्वस्तिक (साथीया) अक्षत पूजा में बनाते है। द्रव्य सहायक साधन है। भाव प्रेरक प्रबल कारण है। भावना-धारणा बनती है।

चारों गति में जीवों का जीवन

चारों गति में संसारस्था संसारी जीवों का निवास है। मनुष्य गति में मनुष्य स्त्री-पुरुष रहते हैं। मनुष्य गति में जन्म होता है। जीव बाल्यावस्था में होता है। आत्मा जो अक्षय स्थिति स्वभाव वाला है उसकी आयु नहीं होती। लेकिन आत्मा जब देह धारण करती है तो वह देह कहां तक ? कितने काल तक टिकाये रखना है ? सम्भाले रखना है ? वह काल अवधि आयुष्य है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की काल अवधि आयुष्य काल है। उतना ही समय जीव को जन्म में रहना है। उसके बाद वह भव पूरा करके वह देह छोड़कर दूसरे भव में जाना पड़ता है। मनुष्य जन्म यद्यपि दुर्लभ है फिर भी आत्मा यदि तथा प्रकार की साधना करे तो मनुष्य जन्म भी तुरन्त दूसरी बार भी मिल सकता है। तीसरी बार भी मिलता है। इस तरह "सत्त-अट्ठ भवा का पाठ हैं। सात से आठ भव मनुष्य गति में जीव लगातार कर सकता है। लेकिन यह कब सम्भव है ? कितनी ऊंची पुण्याई के बाद सम्भव है ? भगवान महावीर ने अपने २७ भवों की भव परम्परा में २ बार मनुष्य भव लगातार साथ में किए हैं। एक बार तो ५वां तथा छट्ठा एक के ऊपर दूसरा दोनों भव मनुष्य गति में लगातार किये हैं। उसी तरह २२ वां तथा २३ वां भव पुनः मनुष्य गति में लगातार मनुष्य गति के किये हैं। भगवान पार्श्वनाथ ने १० भवों की भव परम्परा

में एक बार भी मनुष्य गति के दो-दो भव एक साथ नहीं किये हैं। यह तो संभावना की दृष्टि से ऊंची ऊंची संख्या में बताई है। परन्तु प्राप्त करना यह जीव के खुद के पुण्य बल पर आधारित है। सात-आठ भवों की बात दूर रही परन्तु ८४ लक्ष जीव योनियों के संसार चक्र में भटकते हुए जीव को एक बार भी मनुष्य गति में जन्म प्राप्त करना भी बड़ा कठिन है। फिर दूसरी तीसरी बार की बात ही कहां रही ? अच्छा एक बार के लिए भी मनुष्य गति में जीव आतो गया लेकिन मृगा-पुत्र के जैसा जन्म मिला तो क्या फायदा ? मृगापुत्र का जन्म गति की दृष्टि से जरूर मनुष्य गति में गिना जाएगा लेकिन वह भव संख्या की गिनती में सिर्फ गिना जाएगा। इससे ज्यादा आगे उसे लाभ क्या ? भव मनुष्य गति का लेकिन जीवन सारा मानों नरक गति का दुःख भोगता हो ऐसा लगता है। उसी तरह आज हम आंखों के सामने देखते हैं कि कहलाते तो हैं मनुष्य परन्तु घोड़े-गधे-बैल की तरह बैलगाड़ी खिचते हुए माल ढो रहे हैं। जीवन मनुष्य का और कार्य पशु का। सोचिए

ऐसे जीवों को मनुष्य गति मिली भी सही तो भी क्या फायदा हुआ ? कोई जीव माता के गर्भ में आकर ही चला जाता है। मर जाता है । कोई जन्म के पहले ही मर जाता है, तो कोई जन्म के बाद, तो कोई बड़े होने के बाद, तो कईयों को गर्भ में मां ही मरवा डालती है। आज गर्भपात का पाप भयंकर बढ़ता जा रहा है। जगह-जगह पर पंचेन्द्रिय मनुष्यों की कतल के ये उजले कतलखाने चल रहे हैं। सुधरे हुए सभ्य समाज का यह कलंक है महा पाप है। क्या गर्भस्थ शिशु बालक नहीं है ? क्या वह जीव नहीं है ? बेचारा ८४ लक्ष जीव योनियों में परिभ्रमण करके, आज कितने जन्मों की संचित पुण्याई के बल पर मनुष्य गति में आया, और मनुष्य गति में पैर रखते ही प्रवेश करते ही कोई काटकर वापिस भेज दे। सोचिए कितना भयंकर पाप है ? आप किसी कदर ऊपर चढ़ते हुए मनुष्य गति में आ गए इसलिए क्या दूसरे को मनुष्य गति में आने देना नहीं चाहते ? क्यों ? कोई आया है तो उसे प्रवेश भी नहीं करने देते और जन्म के पहले गर्भ में ही काटकर उसे पुनः ८४ के चक्कर में भेज देते हैं । गर्भपात का यह पाप बड़े सुहावने रूप में सभ्यता और बुद्धिशालीता की ढाल के नीचे चल रहा है। प्रति साल बड़े बड़े अंक की संख्या आती है । लाखों की सख्या में गर्भपात इस राज्य ने कराये हैं। उस राज्य ने कराये हैं। ये बड़े अक क्या सभ्य मानव की सभ्यता की पहचान है। या दुराचारी-दुश्चरित्र दुष्ट मनुष्य की पहचान है। मानव सभ्य तभी कहा जाएगा जब वह पापों का आचरण न करता हुआ पापों का त्याग करेगा। निष्पाप पबित्र जीवन जीने लगेगा तभी। अन्यथा ऊपर से सभ्य दिखाई देनेवाला मानव आज बहुत ज्यादा आंतर वृत्ति से क्रूर दिखाई दे रहा है। बनता जा रहा है। जब मनुष्य अपने ही संतान को गर्भ में काटता जा रहा है, इतना नर पिशाच बनता रहा है तो समझ लीजिए यह पाप मनुष्य को कहां गिराएगा ? यह पाप करने वाला जीव खुद मनुष्य गति दुबारा कब पाएगा ? यह सोचने की बात है। पंचेन्द्रिय वध का यह पाप नरक गति के सिवाय कहां ले जाएगा ? नरक गति में आयुष्यकाल कितना लम्बा है ? फिर वहां दुःख-वेदना और पीड़ा कितनी सहन करनी है ? अच्छा, १ जन्म के बाद नरक गति से निकल तो जाएगा परन्तु तिर्यंच गति में कितने भव करेगा ? पुनः नरक गति में, पुनः तिर्यंच गति में इस तरह दुःख की दुर्गति में भटकता ही रहेगा। जहां केवल दुःख ही दुःख सहन करना पड़ेगा। श्री विपाक सूत्र देखिए जो ४५ आगमों में ११ अंग सूत्रों में ११वां अंग सूत्र है। कर्म के विपाक अर्थात् फल की बात की है। दुःख विपाक विभाग के १ नहीं दसो अध्ययन देख लीजिए। जिसमें मृगापुत्र का पहला अध्ययन है। किस किस गति में कितना भटकना पड़ा ? कितने भव किस गति में करने पड़े ? और एक नहीं सातों नरकों में जाना पड़ा। इतना ही नहीं एकेन्द्रिय

की जाति में पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-वनस्पतिकाय में भी कितना नीचे गिरना पड़ा कितने जन्म-मरण करने पड़े ? कितने दुःख सहन करने पड़े ? एक भव के पाप कर्मों को भुगतने के लिए कितने भवों तक सजा भुगतनी पड़ी ? फिर भी छूटा कि नहीं ? पाप करना तो आसान है। परन्तु किये हुए पापों की सजा भुगतते समय नाक में दम आ जाता है। अतः इस चार गति के गतिचक्र से आत्मा को छुडाने का लक्ष्य रखना चाहिए। पाप तो भूतकाल में अनन्त किये, अनन्त बार किये। लेकिन पाप से छूटने के लिए संवर-निर्जरात्मक धर्म नहीं किया है। वह यदि करने लगे तो इस भव चक्र से छूट सकेंगे। अन्यथा सम्भव नहीं है। अब यह जन्म मिला है। जो मनुष्य गति का मनुष्य भव है। वीतराग जिनेश्वर का शासन-धर्म मिला है। समझने का यही सही समय है। पापों से बचने का यही सही समय है। इस जन्म में पापों से बच जाएंगे। इस गति चक्र से छूटने का लक्ष्य एक बार बन जाय फिर तो पापों से बचना भी आसान है। पापों से बचना है। संसार से छूटना है। इस गति चक्र की भवाटवी से बाहर निकलना है तभी मोक्ष सुलभ है।

इस तरह संसार चक्र का स्वरूप देखा, और उसमें आत्मा का परिभ्रमण देखा। यह परिभ्रमण देखा और वह किसी का नहीं अपितु मेरा खुद का है। ८४ के चक्कर में चारों गति में मैंने खुद ने इतने अनन्त काल से अनन्त भव किये हैं। अब इन अनन्त भवों का ही अन्त लाना है। सदा के लिए अन्त करना है। अतः पूर्ण पुरुषार्थ करें। यथार्थ धर्मोपासना करें। संसार में सभी जीवों के संसार का अन्त हो और सभी परम पद मुक्ति धाम को प्राप्त करें इसी शुभेच्छा के साथ सर्व मंगल.....।

.....卐 शुभं भवतु 卐...

卐

दूसरा प्रवचन-२

"संसार की विचित्रता के कारण की शोध"

परम पूजनीय जगत् वंदनीय परमपिता परमात्मा श्री महावीरस्वामी भगवान के चरणारविंद में नमस्कार पूर्वक.....

एवं अणोरपारे संसारे सायरम्मि भीमंमि ।
पत्तो अणंतखुत्तो जीवेहिं अपत्त धम्मेहिं ॥

बड़ी मुश्किल से भी जिसका पार न पा सकें ऐसे भयंकर संसार रूपी समुद्र में धर्म को न प्राप्त किया हुआ जीव अनन्त की गहराई में गिरा है। यह संसार एक भयंकर महासागर के जैसा है। जिसमें सतत सुख-दुःख की लहरें चलती है। जो ज्वार-भाटे के रूप में आती है जाती है। थोड़ी देर सुख तो थोड़ी देर दुःख इस तरह यह संसार सुख-दुःख से भरा पड़ा है। संसार की तरफ जब दृष्टिपात करते हैं तब अनन्त जीवों का स्वरूप सामने दिखाई देता है। संसार क्या है ? संसार किसी वस्तु का नाम नहीं है। किसी पदार्थ विशेष को भी संसार नहीं कहते हैं। परन्तु जड़-चेतन का यह संसार है। चेतन जीव का जड़ के साथ जो संयोग-वियोग है वहीं संसार है। जीवों का सुखी-दुःखी होना ही संसार है। शुभाशुभ कर्म उपार्जन करना और उसके विपाक स्वरूप सुख-दुःख भोगना ही संसार है। जन्म-मरण का सतत चक्र चलता रहे उसे संसार कहते हैं।

अनादि-अनन्त संसार

यह संसार काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त है। जिसकी आदि कभी भी नहीं होती। अनन्त जीवों की आदि नहीं है। अतः संसार भी अनादि है। चूंकि संसार का आधार ही जड़-चेतन दो पदार्थ है। और उनका भी संयोग-वियोग ही संसार है। आत्मा यह अनुत्पन्न द्रव्य है जो कि कभी उत्पन्न नहीं होता है। जो कभी बनाया नहीं जाता है। निर्माण नहीं होता। अतः उसका नाश भी नहीं होता। जो उत्पन्न होता है उसी का नाश होता है। जिसका नाश होता है वह उत्पन्न द्रव्य है। अतः इसी पर आधारित संसार भी अनादि काल से विद्यमान है। चूंकि आत्मा अनादि-अनन्त है। आत्मा की भी आदि नहीं है अतः संसार की भी आदि नहीं है।

उसी तरह मोक्ष में अनन्त आत्माओं के जाने के बावजूद भी अनन्तानन्त आत्माएं इस संसार में सदा ही रहती है। संसार से सभी आत्माएं मोक्ष में नहीं चली गई है अतः संसार का अन्त नहीं आया है। और अभवी जीव जो कदापि मोक्ष में जाने वाले ही नहीं है। अतः संसार का कभी भी अन्त आना, संभव ही नहीं है। संसरणशील स्वभाव वाला संसार अनन्तकाल तक सदा चलता ही रहेगा।

अपना अन्त या संसार का अन्त ?

साधक अपने बारे में सोचे यही लाभप्रद है। जबकि ऐसा संसार का स्वरूप है। समष्टि से तो यह संसार अनादि-अनन्त है ही। परन्तु किसी व्यक्ति की दृष्टि से इसका अन्त भी है। भगवान महावीर का संसार अनादि जरूर था लेकिन अन्त हो गया। एक व्यक्ति विशेष का संसार सान्त भी है। अतः संसार का अन्त लाना है कि हमको हमारे अपने संसार का अन्त लाना है? समस्त संसार का अन्त तो संभव भी नहीं है। आने वाला भी नहीं है। परन्तु अपने एक के व्यक्तिगत संसार का अन्त लाना चाहें तो जरूर ला सकते हैं। भूतकाल में भगवान महावीर की आत्मा ने अपने संसार का अन्त लाया। वैसे ही चौबिसों तीर्थंकरों ने, सभी गणधर भगवंतों ने, उसी तरह कई आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-साध्वीजी महाराजों ने भी अपने संसार का अन्त किया और मोक्ष में बिराजमान हो गए। परन्तु हमारे जैसों का संसार तो आज भी चल ही रहा है और मान लो कि हम जब संसार छोड़कर मोक्ष में चले जाएंगे तब कीडे-मकोड़े-कृमि-कीट-पतंग आदि अनन्त जीव इस संसार में उनका संसार चलता ही रहेगा। संसार का कभी अन्त नहीं होता।

काले अणाइ निहणे जोणि गहणंमि भीसणे इत्थ।
भमिया भमिहंति चिरं जीवा जिणवयणमलहन्ता ॥

पू. शांतिसूरि महाराज जीवविचार प्रकरण में फरमाते हैं कि—अनादि काल से अनेक योनियों को ग्रहण करता हुआ यह जीव इस भीषण संसार के अन्दर भटकता रहा है और जिनेश्वर भगवान के वचन (आज्ञा) को न प्राप्त करने वाला भविष्य में भी चिरकाल तक इस संसार में भटकता ही रहेगा।

हम संसार को छोडें या संसार हमें छोडे ?

एक युवक रास्ते पर इलेक्ट्रिक के खम्भे से लगा हुआ जोर से चिल्ला रहा

आ—बचाओ · बचाओ···छूड़ाओ छूड़ाओ। किसी सज्जन को यह सुनकर दया आई और वह छूड़ाने आया। साथ में किसी दूसरे को भी मदद में लेता आया। दोनों ने दो हाथ पकड़ कर खिचना शुरू किया। जैसे जैसे दोनों जोर लगाकर हाथ खिचते जा रहे थे कि युवक हाथ मजबूत पकड़ रहा था। उसकी मजबूत पक्कड़ से वे दोनों छूड़ा नहीं सके और चल दिये। यह दृश्य एक तीसरा सज्जन आया। उसने सोचा कि इस युवक ने खम्भे को पकड़ रखा है कि इस खम्भे ने युवक को पकड़ा है ? क्या बात है ? अन्दर से उत्तर मिला खम्भा तो जड़ है। जड़ कहा चेतन को पकड़ रखता है ? अतः इस युवक ने ही खम्भे को पकड़ रखा है, और फिर भी यही चिल्ला रहा है बचाओ···बचाओ···छूड़ाओ · छूड़ाओ ···। क्या बात है ? गंगा उल्टी बह रही है। यदि खम्भे ने पकड़ रखा होता और युवक चिल्लाता तो बात सही भी थी। लेकिन खुद ही चिल्ला रहा है। यह कैसी मूर्खता है ? इसने खम्भे को पकड़ रखा है और खम्भा तो चिल्ला भी नहीं रहा है चूंकि जड़ है। चिन्तक था चिन्तन किया। यहां बल का काम नहीं था। कल (अक्कल) का काम है। उस सज्जन ने कस कर दो थप्पड़ उस युवक के मुंह पर जोर से मारी। चमत्कार ही समझ लो। युवक के हाथ छूट गए और सीधे गाल पर लग गए ! युवक ने रोते हुए भारी स्वर में कहा मुझे मारा क्यों ? क्या यह छूड़ाने का बचाने का तरीका है ? सज्जन ने कहा—माफ करना कभी ऐसा भी तरीका अजमाना पड़ता है। जबकि मेरे पहले दो सज्जनों ने हाथ खिचकर काफी प्रयत्न किया पर नहीं छूड़ा सके अतः मैने बुद्धि पूर्वक एवं युक्ति पूर्वक यह तरीका अपनाया है। अतः माफ करना। परन्तु में यह पूछ रहा हुँ तूने खम्भे को पकड़ रखा था कि खम्भे ने तूझे पकड़ रखा था ? यदि खम्भे में करंट होता तो कब का मर चुका होता। यह तो बताओ किसने किसको पकड़ रखा था। आश्चर्य है कि तुमने ही खम्भे को पकड़ रखा और तुम ही चिल्ला रहे थे तो क्या यह मूर्खता नहीं थी।

वाह ! बहुत अच्छा प्रश्न था उस सज्जन का इस रूपक को हम किसी संसारासक्त संसारी पर लें और देखें कि हमने संसार को पकड़ रखा है कि संसार ने हमको पकड़ रखा है ? हम साधु-संतों के पास जाते हैं कहते हैं कि हे भगवन् ! मेरे ऊपर दया करो। इस संसार से बचाओ···छुड़ाओं ! साधु-संत सदा ही संसार छोड़ने का उपदेश देते हैं लेकिन संसार ने यदि आपको पकड़ा हो तो तो आपको उसके पंजे से छुड़ा भी सकें। परन्तु संसार ने तो आपको पकड़ा नहीं है। आपने संसार को पकड़ कर रखा है। अतः साधु-सन्तों को चाहिए कि पहले दो सज्जनों की तरह प्रयत्न न करके तीसरे सज्जन के जैसा प्रयोग करे तो तो · चमत्कार सम्भव

है। चूंकि आपने आसक्ति से संसार को पकड़ रखा है। और फिर आप ही चिल्ला रहे हो अतः बड़ा मुश्किल है। सोते हुए को जगाना आसान है परन्तु जागते हुए को जगाना बहुत ही कठिन है। संसार हमको नहीं छोड़ेगा चूंकि उसने पकड़ भी नहीं रखा है। हमने ही आसक्ति से संसार को पकड़ रखा है अतः हमको ही छोड़ना पड़ेगा। तभी संसार छूटेगा।

संसार का स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। संसार में एक आता है दूसरा जाता है। एक जन्म लेता है तो दूसरा मरता है। बच्चा जन्म लेता है तो मां मरती है। कभी कभी दोनों ही मृत्यु की शरण में चले जाते हैं। किसी के घर महेफिल चल रही है तो किसी के घर..... रूदन चल रहा है। कहीं हंसी–खुशियों का कोई पार नहीं है तो कहीं रो रोकर आंखों से गंगा–जमुना बहा रहे हैं। कहीं सुख–मोज की लहरें चल रही है तो कहीं दुःख की थपेड़ें खा रहे हैं। ज्ञानी भगवंतों ने अपने ज्ञान योग से भावि का स्वरूप एवं जन्म के बाद के जन्मान्तर का स्वरूप देखकर बताया कि इस संसार में मां मरकर पत्नी बनती है और पत्नी मरकर मां बनती है। बाप मरकर बेटा बनता है और बेटा मरकर बाप बनता है। भाई मरकर शत्रु भी बनता है बेटी मरकर बहन भी बनती है। यह तो फिर भी ठीक है कि मृत्यु के बाद अगले जन्म में ऐसे सम्बन्ध बनते हैं लेकिन इसी जीवन में ऐसे सम्बन्ध आज भी संसार में हो रहे हैं जहां भाई–बहन की शादी हो जाती है। आए दिन अखबारों में पढ़ते हैं कि बाप ने अपनी बेटी पर बलात्कार किया। बेटे ने कुल्हाड़ी से मां और बाप दोनों को मार डाला। पति ने पत्नी को जिन्दी जला दी और पत्नी ने पति को चाय में जहर पिला दिया। कही भाई-भाई का गला घोटता है तो कहीं बाप बेटे को जान से मार डालता है। कहीं सासु बहु को जला देती हैं तो कहीं संसार से ऊब कर बहु अपने आप जलकर मर जाती हैं। प्रेम के नाम पर भी मौत और मौत के सामने दिखने पर भी प्रेम की चाहना। बड़ा ही विचित्र संसार का स्वरूप है।

एक बहुमाली मंजिल से किसी कुंआरी कन्या ने जो माता बन चुकी थी, अपने नए जन्मे हुए शिशु को ऊपर से नीचे कूड़े–कचरे में फैंक दिया। हाश ! क्या माता के दिल में से संतान के प्रति प्रेम समाप्त हो जा रहा है ? क्या दयालु माता निर्दय बनती जा रही है ? परन्तु हां पत्नी बने पहले कुंआरी अवस्था में माता बनने के बाद क्या नतीजा आएगा ? हाय यही कलियुग की पहचान है कि पत्नी बनने के पहले मां बनना, और सन्तान के प्रति क्रूर बनकर फैंक देना। उस अपरिणित युवती ने ताजे जन्मे हुए शिशु को ऊपर से फैंक दिया। नीचे कागज का ढेर था उस पर

बालक गिरा। सद्भाग्य वश बच गया। किसी सज्जन ने उठाकर आनाथाश्रम में दे दिया। पालन-पोषण हुआ। वह लड़की थी बड़ी हुई। अनाथाश्रमवासियों ने स्कूल में पढाई-और कालेज में भेजी। इधर माता-पिता ने जल्दी ही युवती की शादी कर दी। उसको एक लड़का हुआ, लड़के को स्कूल में भेजा..बड़ा होकर उसी कालेज में गया, वहां उसी लड़की से प्रेम हुआ जो अपनी ही बहन थी। चूंकि एक ही मां के दोनों संतान थे। शादी भी हो गई और संसार चलने लगा। ऐसी घटनाएं तो आज अनेक होती है। अमेरिका में जहाँ स्कूल-कालेज में छात्राएं पढ़ती हैं वहां अपरिणित युवतियों में २०% से ३०% छात्राएं प्रति वर्ष माता बनती है। जिसमें १४ वर्ष से १८ वर्ष की आयु होती है और ५०% से ६०% जो माता नहीं बनती है व पहले से गर्भपात करा देती है। गर्भपात केन्द्रों पर स्कूल-कालेज की छात्राओं की कतारें अन्दर-अन्दर लगती हो यह कितनी शर्म की बात है। परन्तु वर्तमान युग के मानवी ने जहां अपने आप को बहुत ही ज्यादा बुद्धिशाली और सभ्य समझ लिया है वहा शर्म-धर्म कहां से रहें? संसार का यह स्वरूप बड़ा ही डरावना है। हां ऐसा तो चलता ही रहता है। काल की बदलती हुई करवट में सब कुछ बदलता रहता है।

एक जन्म में १८ प्रकार के सम्बन्ध

मथुरा नगरी की एक नई नई तरूण वेश्या ने एक पुत्र-पुत्री के युगल को जन्म दिया। अपनी वेश्यावृत्ति के व्यवसाय को चलाने हेतु से दोनों को चिन्ह रूप अंगूठी पहनाकर एक लकडे की पेटी में बन्द करके नदी के प्रवाह में बहा दिये। बच्चों के भाग्य के भरोसे बहती-तैरती पेटी सौर्यपुर शहर के दो व्यापारी मित्र जो नदी के किनारे बैठे थे उन्होंने पेटी ली। खोली। उसमें से एक लड़का और एक लडकी निकली। दोनों संतान के अभाव वाले थे अतः दोनों ने एक-एक बांट लिया और शर्त यह रखी कि भविष्य में इनकी शादी करनी। वैसा ही हुआ। यौवनवय में शीघ्र ही दोनों की शादी करदी गई। कल के दोनों भाई-बहन आज पति-पत्नी बन गये।

एक बार जुंआ खेलते समय अंगूठी से दोनों को ख्याल आया और बाद में अपने पालकों से पूछकर वास्तविकता जानकर कि हम भाई-बहन है अतः संबंध छोड़ दिया। बहन ने पश्चाताप से दीक्षा ली और भाई व्यापारार्थ मथुरा गया। योगानुयोग कर्म संयोग वश कुबेरदत्ता वेश्या जो अपनी मां थी उसी के यहां ठहरा। उसी के साथ (मां के साथ) देह संबंध का व्यवहार चलने लगा। दैव योग वश एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। इधर बहन साध्वी को अवधिज्ञान होने से यह

विचित्र योग देखकर साध्वी विहार करके मथुरा नगरी में उस वेश्या के घर आई। घर के प्रवेश द्वार में उस रोते हुए बालक को शांत करने के बहाने से लौरी गाने लगी। उस लौरी में साध्वी ने अपने संबंध सुनाए। हे बालक! क्यों रोता है तेरे मेरे तो कई संबंध है। तू मेरा भाई होता है, पुत्र भी कहलाता है, देवर भी है, भतीजा भी होता है, चाचा भी लगता है तथा पौत्र भी लगता है। तेरे पिता मेरे भाई भी होते हैं, पिता, दादा, पति, पुत्र और श्वसुर भी लगते हैं। हे बालक! तू रो मत भाई तेरी मां मेरी भी मां लगती है, मेरे बाप की भी मां लगती है। मेरी भुजाई, पुत्रवधु, सास और शोक्य भी लगती है। इस तरह १८ प्रकार के सभी संबंध तेरे मेरे बीच लगते हैं। बनते हैं। तेरा बाप और मैं भाई-बहन हैं, और पति-पत्नी के संबंध से जुड़े। इतना ही नहीं हम छूटे तो भाई (पति) कुबेरदत्त यहां मथुरा में आकर अपनी मां के साथ ही देह संबंध करता हुआ पति रूप में रहने लगा और उससे एक पुत्र पैदा हुआ। हाय! इस संसार की कैसी भयंकर विचित्रता? अब क्या किया जाय? किसको मुंह दिखाएं? साध्वी जो कुछ बोल रही थी वह वेश्या ने और कुबेरदत्त दोनों ने सुना। सुनकर बहुत ही दुःख हुआ। विषय वासना के निमित्त कैसे भयंकर पाप कर्म हो जाते हैं। पश्चाताप से मन वैराग्यवासित हुआ। भाई ने भी दीक्षा ली। साधु बनकर कडी तपश्चर्या करके पाप धोने का संकल्प किया। वेश्या ने वेश्यावृत्ति छोड़ दी। सभी पापों को धोने के लिए पश्चाताप एवं प्रायश्चित की प्रवृत्ति में लग गए। कैसा विचित्र है यह संसार? कैसी घटनाएं घटती है? कैसा स्वरूप धारण कर लेती हैं?

विचित्रता-विषमता और विविधता

इस तरह देखने से स्पष्ट दिखाई देगा कि समस्त संसार का स्वरूप सैंकड़ों प्रकार की विचित्रताओं, विविधताओं एवं विषमताओं से भरा पड़ा है। अतः यही सत्य कहा जाता है कि जहां इस प्रकार की विचित्रता, विषमता एवं विविधताएं भरी पड़ी है वही संसार है। उसी का नाम संसार है। संसार के बाहर मोक्ष में इनमें से एक भी नहीं है। चित्र=अर्थात् आश्चर्य-विचित्रता अर्थात् आश्चर्यकारी-विस्मयकारी स्वरूप। अतः संसार का स्वरूप जो भी कोई देखे उसे आश्चर्यकारी ही लगेगा। संसार में आश्चर्य नहीं होगा तो कहां होगा? अतः समस्त आश्चर्यों का केन्द्र संसार ही है। आप देखेंगे कि—

कोई सुखी है तो कोई दुःखी है।
कोई राजा है तो कोई रंक है।

कोई अमीर है तो कोई गरीब है।

कोई बंगले में है तो कोई झोंपड़ी में है।

कोई राजमहल में है तो कोई फुटपाथ पर है।

कोई हसमुख है तो कोई रोता हुआ है।

कोई सज्जन है तो कोई दुर्जन है।

कोई बुद्धिमान चतुर है तो कोई बुद्धू मूर्ख है।

कोई साक्षर विद्वान है तो कोई निरक्षर भट्टाचार्य है।

कोई सीधा-सादा सरल है तो कोई मायावी कपटी है।

कोई भोला-भाला भद्रिक है तो कोई छलकपट करने वाला प्रपंची है।

कोई सन्तोषी है तो कोई लालचु है।

कोई निर्लोभी है तो कोई लोभी है।

कोई उदार दानवीर है तो कोई उधार लेकर भी कृपण है।

कोई धनवान सम्पन्न है तो कोई निर्धन विपदा में है।

कोई साधार सशरण है तो कोई निराधार अशरण है।

कोई गोरा सुन्दर रूपवान है तो कोई काला कुरूप है।

कोई निरोगी हृष्ट-पुष्ट है तो कोई रोगी दुर्बल देह है।

कोई सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है तो कोई विकलांग है।

कोई मोटा ताजा मस्त है तो कोई दुबला-पतला त्रस्त है।

कोई समझदार है तो कोई नासमझ नादान है।

कोई मन्दमति मूढ़ है तो कोई तीव्रमति चपल है।

कोई लम्बा लम्बूचन्द है तो कोई बौना वामन है।

कोई ज्ञानी है तो कोई अज्ञानी है।

कोई वैरागी है तो कोई रागी है।

कोई सबल है तो दूसरा निर्बल है।

कोई क्षमाशील शांत है तो कोई क्रोधातुर आग है।

कोई नम्र-विनम्र विनयी है तो कोई अक्कड अविनयी है।

कोई निरभिमानी विनीत है तो कोई महाभिमानी–घमण्डी है।

कोई दयालु है तो कोई निर्दय क्रूर है।

कोई चिरायु है तो कोई अल्पायु है।

कोई प्रभाव सम्पन्न है तो कोई प्रभावरहित है।

कोई तेज पूंज समान है तो कोई निस्तेज है।

कोई यश प्रतिष्ठावाला है तो कोई अपयश–अपकीर्तिवाला है।

कोई सन्तानपरिवारवाला है तो कोई निःसंतान अकेला है।

कोई प्रेम रखता है तो कोई वैर वैमनस्य रखता है।

कोई धन लूटा रहा है तो कोई कौड़ी कौड़ी के लिए मुंहताज है।

कोई फूल सुगन्धी है तो कोई सुगन्ध रहित है।

किसी के यहां खाने के लिए बहुत है पर अफसोस कि खानेवाला कोई नहीं है और किसी के यहां खानेवाले बहुत ज्यादा है तो खाने के लिए रोटी का टुकड़ा भी नहीं है। किसी के घर पहनने के लिए ढेर कपड़े हैं, एक साथ २–४ कपड़े पहनते हैं तो किसी के घर शरीर लज्जा ढांकने के लिए भी कपड़ा नहीं है। नंगे घूम रहे हैं। तो किसी के पास कफन के लिए भी नहीं है। यह संसार कि कैसी विचित्रता है। संसार की ऐसी सैकड़ों विषमता हैं। और सच कहो तो विषमताओं से ही भरा पड़ा संसार मानों विचित्रताओं विषमताओं तथा विविधताओं का ही बना हुआ है। इस संसार की चित्र विचित्र बातें भी कम नहीं हैं। किसी के एक भी संतान नहीं है तो किसी को एक साथ ३, ५, ६ सन्तानें होती हैं। कोई जुड़वा सिर वाले बालक हैं तो कोई जुड़वां पेट वाले बालक हैं। किसी किसी में सारा शरीर अच्छा सुन्दर है परन्तु अंगोपांग पूरे विकसे नहीं है।

एक मां अपने ८ महिने के बालक को कपड़े में लपेटे हुए लाई। बालक इतना सुन्दर और मनमोहक था कि प्यार करने के लिए किसी का भी जी ललचा जाय। परन्तु कपड़ा हटाकर मां ने बालक को दिखाया तब देखते देखते आंखे फटने लगी अरे यह क्या ? बांया हाथ कोनी तक ही बना था और दाँया हाथ कलाई तक ही बना था। उसी तरह बांया पैर घुटने तक ही बना था और दाहिना पैर एडी तक भी नहीं बना था। यह कैसा आश्चर्य ? इतना सुन्दर बालक होते हुए भी यह विचित्र अवस्था ? विपाक सूत्र नामक ११वें अंगसूत्र में दुःख विपाक के पहले अध्य-

यन में मृगापुत्र का जो वर्णन किया गया है वह रोम रोम खड़े करदे ऐसा आश्चय-कारी है।

एक मां अपने १४ महिने के बच्चे को लेकर आई और कहा महाराज! डॉक्टर ने कहा है कि यह मुश्किल से एक दिन भी नहीं जीएगा। सारे शरीर में कैंसर की गांठें भर गई हैं। मुंह से पानी भी नहीं उतरता है और पेशाब भी नहीं होता। मौत का इन्तजार करता हुआ वह सुन्दर-सुरूप बालक दिल में दया का मानों स्रोत बहा रहा हो। पर हाय निःसहाय निरुपाय बालक ने दूसरे दिन दम तोड़ दिया। यह कैसी विचित्रता है।

पशु-पक्षियों की सृष्टि में दृष्टिपात करने पर दुनिया भर की विचित्रता विविधता दिखाई देती है। मूक मन से प्राणियों की यह विचित्रता संसार में देखते ही रहो.....बस.....देखने के सिवाय और कोई उपाय ही नहीं हैं। बेचारे ऊंट का शरीर कैसा है? अठारह ही अंग सभी टेढे मेढे। हाथी का शरीर इतना बड़ा भीम-काय है कि बिचारा भाग भी न सके। कुत्ते-बिल्ली की विचित्रता कुछ और ही है। खाने के हाथ भी नहीं है। बन्दर दो पैरों का खाने के लिए हाथ की तरह उपयोग भी कर लेता है। जलचर प्राणियों के न हाथ न पैर मछलियां अपने पंख से ही तैरती रहती है। पक्षी पंख से उड़ते हैं किसी के सींग है, तो किसी के एक भी सींग नहीं, तो किसी के बारह सींग पेड की डाली की तरह दिखाई देते हैं। पशु-पक्षीयों की प्राणी सृष्टि में कीड़े-मकोड़े तक देखने जाएं तो आश्चर्य का पार नहीं रहेगा। किसी के कान ही नहीं तो किसी के आंख ही नहीं है। कोई जीवन भर आंख के बिना ही काम चलाते हैं। इन्द्रियों के भी विकल बिचारे विकलेन्द्रिय जीव किसी कदर जीवन बिता रहे हैं। सभी जीव आहारादि की संज्ञा के पीछे जीवन बिता रहे हैं। मानों बहते पानी की तरह सभी का जीवन बीतता जा रहा है। फिर भी दुःख से मुक्ति कहां हैं? अगले जन्म में वही परम्परा चलती रहती है। न तो भवचक्र का अन्त है और न ही जन्म-मरण के चक्र का अन्त है, और न ही संसार का अन्त। न ही भव भ्रमण का अन्त है। किसी के लिए तो हम कहते हैं— "वन्स मोर प्लीज" फिर से दुबारा गाइए। दुबारा बोलिए। आप तो दो घंटे से भी ज्यादा बोलते ही रहिए। और किसी के लिए गधा कहीं का बड बड करता ही रहता है। बैठता भी नहीं है। किसी का मधुर सुस्वर मीठा कंड पंसद आता है। मुग्ध कर लेता है। तो किसी का स्वर भैंसासूर गर्दभराज का फटा हुआ गला सुनने को जी नहीं चाहता। कोई कोयल जैसा तो कोई कौए जैसा। कौए और कोयल में भी क्या अन्तर है? समान दिखने-वाले भी आसमान-जमीन का अन्तर रखते हैं। कोयल अपने वर्ण से नहीं परन्तु

कंठ से सभी को प्रिय है। जबकि कौआ किसी भी रूप में किसी को प्रिय नहीं है। सभी को अप्रिय है। संसार में प्रियाप्रिय की विचित्रता बड़ी लम्बी चौडी है।

इस प्रकार का संसार देखने से सैंकड़ों प्रकार की विचित्रता, विविधता और विषमता दिखाई देती है। इसका कारण क्या हो सकता है।

दो भाई के बीच वैषम्य

एक मां के दो पुत्र या चार पुत्र भी परस्पर समान स्वभाव वाले नहीं होते हैं। समान प्रेम भी नहीं होता। भाई-भाई भी दुश्मन बन जाते हैं। एक दिन एक थाली में इकट्ठे भोजन करने वाले दो भाई एक दिन एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। एक दूसरे को आंखों के सामने देखने के लिए भी तैयार नहीं है। ऐसे दृष्टांत को देखने जाएं तो संसार में लाखों दृष्टांत है। औरो की तो बात ठीक परन्तु हमारे परम उपकारी भगवान पार्श्वनाथ का ही दस भवों का संसार देखें तो बड़ी भयंकर विचित्रता सामने आएगी। पहले जन्म में दोनों एक माता-पिता के दो पुत्र सगे भाई थे। बड़ा भाई कमठ और छोटा भाई मरूभूति। माता-पिता ने दोनों की शादी करा दी। कालावधि समाप्त होने पर दोनों स्वर्ग में चले गए। कालक्रम से दोनों भाई बड़े हुए। सामान्य निमित्तों के कारण बड़े भाई कमठ को छोटे भाई मरूभूति पर निष्कारण वैमनस्य रहने लगा। वह घर छोड़ कर जगल में भग गया। तापस के आश्रम में जाकर सन्यासी बना परन्तु मन में भाई का वैर लेने की वृत्ति शांत नहीं हो रही थी। वह सन्यासी बनकर आया और गांव के बाहर धूणी लगाकर तपश्चर्या करके बैठा। मुसाफिर के साथ मरूभूति को बुलाने का संदेश भेजा। भद्रिक परिणामी मरूभूति मिलने गया। ऐसा मौका देखकर बड़े भाई कमठ ने बड़े पत्थर की शिला उठाकर पैरों में झुके भाई के सिर पर जोर से पटककर सिर फोड कर मार डाला। इतने से भी संतोष नहीं हुआ.....तब अपनी समस्त तपश्चर्या को होड में लगाकर नियाणा किया कि भावि में जनम-जनम तक इसको मारने वाला तो मैं ही बनूं। यही हुआ आगे। १० जन्म तक दोनों भाईयों का भव संसार वैर-वैमनस्य का चला। छोटा भाई मरूभूति जो स्वभाव से शांत प्रकृति का था। समता का साधक था। आत्म कल्याण की साधना में लगा हुआ था। ठीक इससे विपरीत प्रकृति वाला बड़ा भाई कमठ था। वह सभी जन्मों में मारनेवाला ही बना। मारता ही गया। परन्तु याद रखिए मारने वाले का ही बिगडता है। समता से मरनेवाले का कुछ भी नहीं बिगड़ता। दुर्गति मारने वाले की होती है। समता से समाधि में मरने वाले की सद्गति होती है। संसार में मारने की वृत्ति वाले तो लाखों है जबकि

समता से समाधि में मरने वाले विरले है। मरनेवाला महान है। मारनेवाला अधम है। अन्त में यही हुआ दस जन्मों तक समता शांति रखने वाला छोटा भाई मरूभूति दसवें जन्म में भगवान पार्श्वनाथ बनकर मोक्ष में गए। जबकि बड़ा भाई कमठ आज भी संसार की घटमाल में भटक रहा है। न मालुम आगे कितने भवों तक भटकता ही रहेगा। सगे भाईयों के बीच ऐसा भयंकर संसार चलता है तो फिर अन्यों में तो कहा ही क्या जाय ? जाति वैमनस्य का रूप तो और भी भयंकर है।

एक जज तो एक भिखारी

बात सगे दो भाई की है। छोटा भाई तो हाईकोर्ट का जज है और बड़ा भाई रस्ते पर भिख मांगता हुआ भिखारी है। योगानुयोग रास्ते में भिखारी हमारे पास आया कुछ मांगने की दृष्टि से। और उसी समय जज साहब भी वहां से पसार हो रहे थे कि वे भी रूके। भाई को कहा चल गाड़ी में बैठ जा। मेरे साथ बंगले में ही रह जा। क्यों इस तरह भिख मांगता है ? दुनिया देखती है। मुझे शरमिंदा होना पड़ता है। बहुत कुछ कहा लेकिन भाग्य कहां घसीट ले जाते हैं ? कैसा विचित्र संसार दो भाईयों में भी समानता नहीं है। बड़ी भारी विषमता है। विचित्रता है। एक मां के चार बेटे भी समान स्वभाव के नहीं है। कोई पूर्व दिशा की बात करता है तो दूसरा पश्चिम की। कोई क्रोध की आग से घर को जलाता है तो कोई लोभ-वृत्ति से घर को लूटता है। कोई मान अभिमान से घर की इज्जत बिगाड़ता है। तो कोई मायावि वृत्ति से कपट की जाल रचता है। संसार सर्वत्र विचित्र सा दिखाई देता है। इतना ही नहीं युगल रूप में जन्मे हुए दो भाईयों के बीच में भी साम्यता नहीं होती है। क्या कारण है ?

भव रोग का भय

भव अर्थात् संसार, भव अर्थात् जन्म-मरण, भव अर्थात् संसार की भव परम्परा। देह रोग का भान तो सबको होता है। परन्तु भव रोग का ज्ञान किसी विरल को ही होता होगा। आधि-व्याधि-उपाधि में कई प्रकार के रोग बताए गए हैं। शारीरिक रोग एवं मानसिक रोग तो प्रसिद्ध ही है। सभी इनसे अच्छी तरह सुपरिचित है। शरीर में होने वाले रोग शारीरिक रोग हैं। पागलपन आदि मानसिक रोग है। उन्माद आदि कामासक्ति के रोग है। ये सभी साध्य-असाध्य दोनों कक्षा के हैं। कई रोग जो साध्य हैं वे जल्दी ठीक हो जाते हैं। लेकिन जीव लेकर ही जाने वाले असाध्य रोगों की सूचि भी आज छोटी नहीं है। शरीर तंत्र में होने

वाले शारीरिक रोगों से आज सभी संतप्त है। उससे बचने के लिए सैकड़ों उपाय ढूंढ निकाले हैं। कई प्रकार के इलाज कराए जाते हैं। लेकिन इसी शरीर के भीतर रहने वाली जो चेतना शक्ति है जिसे आत्मा कहते हैं जिसके आधार पर ही यह जीवन चल रहा है। आत्मा चली जाय तो इस मृत शरीर की कोई किमत नहीं है। आग में जलाकर भस्म कर देते हैं। अतः इतना अमूल्य कीमतिं, तत्व आत्मा जो केन्द्र में है उसके बारे में क्यों कभी कोई सोचता तक नहीं है। जैसे शरीर में रोग उत्पन्न हो सकते हैं वैसे ही आत्मा में भी रोग हो सकते है। आत्मा को भी रोग लागु हुआ है। वह है भव रोग। भव रोग अर्थात् सतत् जन्म-मरण धारण करते रहना। एक जन्म से दूसरे जन्म में एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरी गति में सतत् परिभ्रमण चलता ही रहता है। इसका नाम है भव रोग। यह शरीर को नहीं आत्मा को लागू होता है। आत्मा इस रोग से पीड़ित है। जिस तरह शरीर के शारीरिक रोगों के पीछे खान-पान आदि की अनियमितता वात-पित्त-कफ की विषमता, या किटाणु आदि कारण भूत रहते हैं उसी तरह आत्मा के इस भव के पीछे "कर्म" ही कीटाणु के रूप में है। कर्म ही एक मात्र कारण के रूप में है।

वैद्य, हकीम या डाक्टर जिस तरह शरीर की जांच करके रोग के कारण का पता लगाते है और चिकित्सा करके ठीक भी करते हैं उसी तरह देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान और गुरू भी हमारे भव रोग के ज्ञाता है। जानकार है। उन्होंने पाप कर्म को हमारे रोग का कारण बताया है। यही सही निदान है। उसकी चिकित्सा के रूप में तप-त्याग रूप धर्म की उपासना बताई है। अपथ्य सेवन न करने के रूप में पाप कर्म बांधती है तो पुनः भव परम्परा बढ़ती ही जाएगी। अतः ज्ञानी गीतार्थ गुरू भगवन्तों ने पाप सेवन को कुपथ्य के रूप में वर्ज्य बताया है। धर्म को चिकित्सा पद्धति के रूप में समझाया है। शारीरिक रोगों से पीड़ित देह रोगी रोग की वेदना को समझकर शीघ्र ही वैद्य-डॉक्टर के पास चला जाता है और चिकित्सा प्रारम्भ कर लेता है। परन्तु भवरोगार्त-भव रोग से पीड़ित यह जीव भव रोग को समझ ही नहीं पाता है। पहचान ही नहीं पाता है। आश्चर्य इस बात का है कि स्वय जीव जिस भव रोग से अनादि-अनन्त काल से पीड़ित है फिर भी उस रोग को ही नहीं समझ पा रहा है। तो फिर बचने की चिकित्सा की बात ही कहां से सोचेगा? समझने की बात तो दूर रही परन्तु भव रोग है कि नहीं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं है। इसे चाहे आप अज्ञानता कहो या मोहग्रस्तता कहो या जो भी कुछ कहो लेकिन यह हकीकत सत्य ही है कि जीव आज दिन तक इस विषय में कोई शोध नहीं कर रहा है। देह रोग को समझकर उससे बचने के लिए चिकित्सा करने

वालों की प्रतिशत संख्या कितनी बड़ी है ? शायद ९९% होगी। परन्तु भव रोग से पीड़ित संसार का संसारी जीव इसे समझने के लिए प्रयत्न करने वाले, इसके कारण की शोध करने वाले या, चिकित्सा कराने के लिए सज्ज हुए शायद २–५ या १०% भी मिलने मुश्किल है।

भव रोग के त्राता प्रभु से प्रार्थना

भवरोगार्त जन्तुनामगदंकार दर्शनः ।
निःश्रेयस श्री रमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ।।

त्रिशष्ठी शलाका पुरुष चरित्र में चौबीसों भगवान की स्तुति करते हुए सकलार्हत् स्तोत में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य महाराज श्रेयांसनाथ भगवान की इस स्तुति में कहते हैं कि रोग ग्रस्त किसी रोगी को वैद्य के आगमन की सूचना मात्र कितना आश्वासन दिलाती है। जैसे कोई मरीज बिछाने पर पड़ा हुआ त्रस्त है। चिल्ला रहा हो और उसे सूचना दी जाय कि वैद्यराज आ रहे हैं। शायद यह सुनते ही आधी तो मानसिक शांति हो जाती है। वैद्य के दर्शन होते ही मरीज आधा शांत हो जाता है। उसी तरह भव रोग से पीड़ित मेरे जैसे रोगी के लिए हे श्रेयांसनाथ भगवान ! आपके दर्शन भी शान्त्वना देने वाले हैं। रोगी के लिए वैद्य की तरह आपके दर्शन मेरे लिए लाभदायि है। निःश्रेयस=मोक्ष में विलास करने वाले ऐसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान हमारे श्रेय=कल्याण के लिए हों। ऐसी भावना व्यक्त की गई है। अतः जिनेश्वर परमात्मा हमारे भव रोग के महान् चिकित्सक है। उन्हीं से हमारा यह भव रोग मिट सकता है।

भव भीरू और पाप भीरू

संसार में सर्वत्र पात्रता देखी जाती है। एक पिता अपनी कन्या की शादी के लिए भी सामने युवक की पात्रता देखता है। उसी तरह एक पिता अपनी लाखों की कमाई पुत्र को देने के पहले उसकी पात्रता योग्यता देखता है, उसी तरह धर्म के लिए धर्मी की पात्रता क्या हो सकती है। धर्म करने के लिए कौनसा जीव योग्य-पात्र कहलाता है ? इसका उत्तर देते हुए महापुरुषों ने भव भीरू और पाप भीरू जीव को ही धर्म के लिए योग्य पात्र ठहराया है। अर्थात् जिसके मन में भव=संसार के प्रति भय हो ऐसा भव भीरू धर्मी कहलाने के लिए योग्य पात्र है। अब मेरी भव संख्या बढ़ न जाय इसके लिए जो जागरूक है वह भव भीरू योग्य पात्र है। मानों कि एक मरीज डाक्टर की दवाई ले रहा है। ज्वर उतारने के लिए डाक्टर ने सूंई लगाई। फिर भी यदि ज्वर कम होने की अपेक्षा बढ़ता ही गया। ऐसा ही दो-तीन

दिन तक चलता रहा लेकिन इसके बाद क्या ? क्या आप डाक्टर को योग्य कहेंगे ? औषधि जो रोग को बढ़ाये उसे औषधि कैसे कहें ? अतः वह औषधि उस रोग के लिए उचित नहीं हैं। वैसे ही अब में जीवन ऐसा जीउ कि मेरा भावि संसार न बढ़े। मेरी भावि भव परम्परा बढ़ न जाय ऐसा भव भीरू जीव ही धर्म क्षेत्र में योग्यता धारक गिना जायगा।

भव भीरू बनने के लिए पाप भीरू बनना आवश्यक है। पाप से डरने वाला अर्थात् पाप हो न जाय, किसी क्रिया में पाप कर्म न लग जाय इसका कदम-कदम उपयोग रखने वाला ही पाप भीरू कहलाता है। कायर और कमजोर यदि कहीं होना भी है तो पाप के सामने कमजोर होना भी अच्छा है। आज धर्मी अनेक हैं। धर्म करने वाले अनेक हैं। परन्तु पाप न करने वाले, पाप न करने की प्रतिज्ञा करने वाले बहुत कम है। अतः धर्म करने के लिए भी पाप छोड़ना सीखना अनिवार्य है। किसी विशेष प्रकार का पाप में नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह बड़ा धर्म है। मैं हिंसा नहीं करूंगा, झूठ नहीं बोलुंगा. चोरी नहीं करूंगा, दुराचार, बलात्कार, व्यभिचारादि नहीं करूंगा ऐसी सर्वथा प्रतिज्ञा करना या आंशिक प्रतिज्ञा करना यह बड़ा धर्म है। इसीलिए वीतराग भगवान का धर्म विरति प्रधान है। विराति दो प्रकार की है। (१) देश-विरति। अर्थात् अल्प प्रमाण में पाप न करने के नियम। यह गृहस्थी के लिए उपयोगी धर्म है। गृहस्थ जीवन की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए इस देश विरति धर्म के यम-नियम है। अतः इस देशविरति धर्म का उपासक श्रावक कहलाता है। दूसरा सर्व विरति धर्म है। जिसमें छूट नहीं है। हिंसा-झूठ-चोरी, मैथून सेवन एवं परिग्रह आदि के पाप सर्वथा आजीवन न करने की महाभिष्म प्रतिज्ञा ही सर्व विरति धर्म है। यह साधु धर्म है। जो ऐसे महाव्रत धारण करता है वह साधु कहलाता है। अतः वीतराग के धर्म में पाप त्याग को प्राथमिकता दी गई है। पाप त्याग करने वाला ही महान् है। कौन कितने प्रमाण में किन-किन पापों का त्याग करता है वह उतने प्रमाण में धर्मी है। दूसरी तरफ जो पंचाचारादि धर्मोपासना है वह भी धर्म है। एक विधेयात्मक है दूसरा निषेधात्मक है। दोनों का ही यथायोग्य पालन करना चाहिए। आज लोग विधेयात्मक धर्म में दर्शन-पूजा-सामायिक-माला-जाप आदि कर लेते हैं। करने का नियम भी लेते हैं परन्तु अधर्म-पाप त्याग की प्रतिज्ञा की बात करो तो तैयार नहीं होते हैं। परिणाम यह आता है कि धर्म भी करते हैं और पाप भी करते जाते हैं। इसीलिए धर्म की कीमत भी घटती है। लोग धर्मी की निंदा भी करते हैं। निंदा धर्म की नहीं होती है परन्तु धर्म करते हुए पाप प्रवृत्ति कम नहि होती है उसकी है।

अतः धर्म करने वाले धर्मी की यह जिम्मेदारी है कि वह धर्म करने के साथ-साथ पाप भी जीवन में से कम करता जाय। पाप कम—करते करते एक दिन ऐसा भी आ जाएगा कि वह पाप सर्वथा छूट जाय। तभी सोने में सुगंध मिलेगी। इसी तरह पाप भीरूता जीवन में बढ़ेगी। पाप भीरूता से भव भीरूता बढ़ेगी। इसी तरह आत्मा कल्याण के पथ पर अग्रसर होगी। धर्म और धर्मी दोनों की कीमत बढ़ेगी। अतः पाप भीरूता और भव भीरूता यही धर्मी के योग्यता-पात्रता का मापदण्ड है।

ईश्वरोपासना धर्म

धर्माराधना में ईश्वर की उपासना यह केन्द्र में है। उपासना के केन्द्र में ईश्वर जरूर है। हमारी सारी साधना ईश्वर के ईर्दगिर्द है। आत्मा को विकास पथ पर अग्रसर करने के लिए ईश्वर का आलंबन-सहारा लिए बिन आगे बढ़ना असंभव सा है। अतः अध्यात्मवादी आस्तिक ईश्वरोपासना को आलंबन के रूप में अपने केन्द्र में रखेगा। ईश्वर तत्व हमारे लिए एक ऊंचा आदर्श है। सर्वोच्च आदर्श है। चूंकि हम अपूर्ण है। ईश्वर पूर्ण तत्व है। अपूर्ण को पूर्ण की उपासना करनी है। हम अल्पज्ञ है ईश्वर सर्वज्ञ है। अल्पज्ञ को सर्वज्ञ की साधना करनी है और अल्पज्ञता हटाकर सर्वज्ञता प्राप्त करनी है। अपूर्णता हटाकर पूर्णता प्राप्त करनी है। इसी तरह ईश्वर में एक नहीं अनेक गुण है। परन्तु हमारे में एक नहीं अनेक दुर्गुण भरे पड़े है। इन दुर्गुणों के कारण हम दुष्ट-दुर्जन कहे जाते हैं, गिने जाते हैं। अतः दोषों को निकालने के लिए निर्दोष का सहारा लेना, दोष रहित ऊंचे आदर्श का आलंबन लेना अनिवार्य है। साध्य है निर्दोषता। परन्तु साधना के केन्द्र में निर्दोष आलंबन किसी का लेना पड़ेगा। वह कौन और कैसा हो सकता है? क्या हमारे जैसा ही दूसरा कोई भी हमारा आलंबन बन सकता है? नहीं निर्दोषता के साध्य की साधना में सदोषी को आलंबन बनाने में साधना का परिणाम विपरीत आएगा। रागी को आलंबन बनाकर की जाने वाली साधना हमें वीतरागी नहीं बनाएगी। रागी तो हम है ही अतः वीतरागता प्राप्त करने का साध्य बनाएं। वीतरागता की साधना के लिए वीतराग का ही आदर्श ऊंचा आलंबन समझा जाएगा। अतः जो सर्वज्ञ हों, निर्दोष—दोष रहित हों, पूर्ण तत्व हो, वीतराग हो ऐसे अनेक गुणों से परिपूर्ण—तत्व चाहे ईश्वर नाम वाच्य हो वही हमारी उपासना का केन्द्र हो सकता है। उपासना के तरीके भिन्न हो सकते हैं। परन्तु उपास्य का स्वरूप भिन्न भिन्न स्वरूप का चित्र-विचित्र कर देंगे तो साधना का फल भी चित्र-विचित्र हो जाएगा। साधक साधना के जरिए साध्य को प्राप्त नहीं कर पाएगा तो उसकी साधना व्यर्थ चली जाएगी।

गुणोपासना का आधार–"ईश्वर"

गुणप्राप्ति निर्गुणी की साधना का साध्य है। अतः सर्वगुण सम्पन्न तत्व ईश्वर परमात्म स्वरूप में, परम शुद्ध स्वरूप में, परमपुरुष-पुरुषोत्तम, सर्वोच्च स्वरूप में हमारा सहायक उच्च आदर्शभूत आलंबन है। आलंबन लिए बिना निःसहाय चल नहीं सकता। बालक को चलाने में हमें अंगुली पकड़ाकर चलाने का साथ देना पड़ता है। अज्ञानी साधक आज बाल्यावस्था में है। अतः बिना आलंबन के हम आगे बढ़ें यह नामुमकिन है। उसी तरह आलंबन यदि ऊंचे आदर्श का लिया ही है तो उसे पूरा मान-सम्मान देना यह साधक का कर्तव्य होता है। पूज्य-पूजनीय के प्रति पूजा यह उनकी पूजनीयता का सम्मान है। अपमान पूजा भाव को गिराएगा। विकास पथ की साधना में यह सहायक नहीं बाधक बनेगा। अतः पूजनीय के प्रति पूज्यभाव को व्यक्त करने वाली पूजा पद्धति उपासना का प्रकार है। तरीका है। पूज्य पूजनीय क्यों है? क्योंकि पूजा करने योग्य उनका ऊंचा स्थान है। गुणों के भण्डार हैं। सर्वदोष रहित है। सर्वगुण सम्पन्न है। साधक निगुर्णी है। दोषग्रस्त है। साध्य जब सर्वगुण सम्पन्न हो और साधक सर्वदोष सम्पन्न हो तो ही पूजा की उपयोगिता सिद्ध होगी। पूज्य की पूजा करना अंतस्थ सद्भावों को, सन्मान को व्यक्त करने का प्रकार है। सही तरीका है। वही भक्ति है। भक्ति भगवान से जुड़ी हुई है। जिसका कर्ता भक्त स्वयं है। भक्ति में वह शक्ति है जो भगवान की भगवत्ता को खींचकर लाने का चुंबकीय कार्य करती है। अतः भक्ति यह भक्त और भगवान के बीच की कड़ी है। जैसे पति-पत्नि के बीच प्रेम की एक कड़ी है, मां और बेटे के बीच स्नेह-वात्सल्य की जो कड़ी है वही दो के भेद को मिटाकर अभेद की ओर ले जाती है। उसी तरह भक्त और भगवान के बीच के भेद को काटने वाली भक्ति वह कड़ी है, जो भेद को मिटाकर अभेद भाव की कक्षा में ले जाकर एकाकार बना देती है। भक्त भगवान बन जाता है। अतः भक्ति में गुणाकर्षण की चुंबकीय शक्ति है।

ईश्वर जो आत्म गुणों के सर्व सम्पूर्ण वैभव-ऐश्वर्यों से सम्पन्न है वही हमारी भक्ति का केन्द्र है। भक्ति उसे पाने का सरलतम माध्यम है। जिसमें गुणोत्कर्ष का स्थान है उसके गुणों का गुणाकर्षण करने की चुंबकीय शक्ति भक्ति में है। भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि––

गुण अनन्त। सदा तुझ खजाने भर्या।
एक गुण देत मुझ शुं विमाशो।।

भक्त भक्ति के माध्यम से भगवान और अपने बीच का भेद-अन्तर कम करता हुआ समीप में जाकर गुणयाचना करता हुआ कहता है--हे प्रभु ! आप तो सदा ही अनन्त गुणों से भरे हुए हो, गुणों के भण्डार हो अतः मुझे भी एक गुण दे दीजिए। एक गुण देने में आपके गुण भण्डार में कौनसी कमी आ जाएगी ? परमात्म स्वरूप ईश्वर को गुणैश्चर्य सम्पन्न कहा है। अतः ईश्वरोपासना भक्ति के माध्यम से की जाती है।

ईश्वर को पहचानना जरूरी है।

एक पत्नी से उसके पति की पहचान पूछी जाय और पत्नी उत्तर में कहे कि वे कैसे है, वे कौन हैं इत्यादि में नहीं जानती। "पति देवो भव" की भावना से पत्नी पति के प्रति समर्पित है और इस तरह अपना संसार चलाती हुई २५-५० वर्षों का काल बिता चुकी है। ५० वर्ष की लम्बी अवधि तक पति के साथ रहकर, पति की सेवा भक्ति करती हुई पत्नि ऐसा जबाब दे यह संभव नहीं लगता। वह अपने पति को अच्छी तरह जानती है। नख से शिख तक नस-नस पहचानती है। ना कैसे कहे ? ठीक है कि संसार का संबंध है और जिन्दगी भर साथ रहना है इसलिए पत्नि पति को अच्छी तरह पहचानती हो यह संभव है। परन्तु क्या हम यही प्रश्न एक भक्त को पूछें कि भाई ! तुम जिस भगवान की वर्षों से भक्ति करते हो उस भगवान को पहचानते तो हो कि नहीं ? भगवान का स्वरूप अच्छी तरह जानते हो कि नहीं ? शायद पत्नि के उत्तर की भक्त इतना सुन्दर दृढ़ विश्वास का उत्तर दे पायगा कि नहीं इसमें हमको शंका है। पत्नि पति को अच्छी तरह जानती है, पहचानती है परन्तु एक भक्त भगवान को अच्छी तरह नहीं पहचानता।

जिसका जैसा स्वरूप है उसका वैसा स्वरूप न जानें, न पहचानें तो यह हमारा सम्यग् दर्शन नहीं होगा। या तो भगवान को पहचानते ही नहीं हैं और कई पहचानते भी हैं तो वे भगवान जैसे हैं, वैसे नहीं जानते। जो स्वरूप भगवान का है उस स्वरूप को नहीं जानते। उसमें भी विकृतियां खड़ी कर देते हैं। विकृत स्वरूप

में पहचानते हैं। अतः हमें चाहिए कि हम दूसरों को हमारी दृष्टि जैसी है वैसे स्वरूप में न पहचानें। यह मिथ्या दर्शन हो जाएगा भगवान जैसे हैं, जैसा शुद्ध स्वरूप उनका है उन्हें हम वैसे ही शुद्ध स्वरूप में पहचानें तो ही सही पहचान होगी। यही सम्यग् दर्शन कहलाएगा। हम बाजार में जाते हैं तो जो भी पीला हो वह सोना है ऐसा समझकर सोना नहीं खरीदते हैं। यदि खरीदते हैं तो हम ठगे जाएंगे। चूंकि तर्क पद्धति से ही सही न्याय नहीं लगाया है। सही न्याय भी देखें कि--जो सोना होता है वह जरूर पीला होता है इसमें संदेह नहीं है परन्तु सभी पीले पदार्थ सोने के रूप में ही है ऐसा नियम नहीं है। अतः पीला देखकर सोना न समझें। सोने को जरूर पीला समझें। कई एक जैसे पीले रंग के पदार्थों में सोना भी पीला है। पीले-पीले रंग के समानदर्शी पदार्थों में सोना भी मिल गया है। रंग साम्यता में पदार्थ खो गया है। उसे ढूंढकर निकालने के लिए जरूर परीक्षक बुद्धि अपनानी पड़ेगी। परीक्षा करके खरीदने में ठगे नहीं जाएंगे। कसोटी के पत्थर पर सोने की परीक्षा की जाती है। उसी तरह कष, छेद-भेद-तापादि भिन्न-भिन्न परीक्षा करके सोना खरीदा जाता है। हमारी लाखों रुपयों की संपत्ति व्यर्थ न चली जाय अतः सुवर्ण परीक्षा रत्न परीक्षा आदि करते हैं। यहां परीक्षा करना लाभदायक है।

न्याय तार्किक शिरोमणि पूज्य हरिभद्रसूरि महाराज भी भगवान की, धर्म की परीक्षा करके भगवान को, धर्म को, पहचानने के लिए कहते हैं। जिसकी हम जिन्दगी भर पूजा करें, उपासना करें, जीवन भर जिसकी भक्ति करें और उसे ही न पहचान पाएँ तो हमारी सारी भक्ति निष्फल चली जाएगी। **"बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय"** वाली कहावत चरितार्थ होती हुई दिखाई देगी।

एक गृहस्थ ने पारसमणि समझकर एक रत्न-मणि को खूब संभालकर रखा। जान से भी ज्यादा जिसका जतन किया। कोई देख न जाय, कोई चोरी कर उठा न जाय इस डर से हमेंशा सीने से लगाकर बांध रखा। इसलिए कि शायद भविष्य में जब भी कभी आर्थिक संकट आकर खड़ा होगा उस दिन इस पारणमणि से सोना बनाकर जीविका चला लेंगे। संभालते हुए ५०-६० वर्ष बीत गए। आर्थिक परि-

स्थिति ने पल्टा खाया। दो युवान बेटे मौत के मुंह में चले गए। आजीविका का आधार टूट गया। आयु वृद्धावस्था के पार पहुंच गई थी। घर में खाने पीने की समस्या खड़ी होने लगी थी। अतः पत्नि ने कहा कि अब तो वह पारसमणि निकालो, कुछ सोना बनालो। बाजार में बेचो, अनाज खरीद कर लाएं। जिससे आजीविका तो चले। पत्नि की बात पर गौर से सोचा। बात सही थी। वृद्ध ने अपनी पत्नि से कहा तुम थोड़े लोहे के टुकड़े इकट्ठे कर लाओ। मैं पारसमणि निकालता हूं। स्पर्श करके सोना बना लेंगे। ५०–६० साल से जान से भी ज्यादा जिसे संभालकर रखी थी वह पारसमणि उस वृद्ध ने अपने सीने पर बंधी कपड़े की पट्टी खोलकर निकाली। वृद्ध बेचारा बड़ा प्रसन्न था। हां आखिर गरीब के लिए तो १-१ पैसा आशा की किरण है। आश्चर्य इस बात का था कि पारसमणि समझकर वर्षों से अपने पास संभाल कर रखी। परन्तु कभी भी सोना बनाकर भी देखा नहीं था। चूं कि आज से ही यदि बनाने लग जाऊंगा तो बेटे सोना देखकर प्रमादी बन जायेंगे : कोई भी कमाएगा नहीं। अतः जरूरत पड़ेगी तब बना लेंगे। इस हेतु से संभालकर रखी। आज सोना बनाने की परिस्थिति आ गई है ऐसा समझकर सोना बनाने घर के अन्दर के एक कमरे में बैठा। पत्नि लोहे के टुकड़े ले आई। घर बन्द करके अन्दर के कमरे में वृद्ध ने पारसमणि निकाली और लोहे के टुकड़े को स्पर्श किया। हाय अफसोस कि कुछ भी नहीं हुआ। सोना नहीं बना। वृद्ध हैरान हो गया। पारसमणि लोहे के टुकड़े पर रगड़ने लगा। खूब जोर से घिसने लगा। बेचारा पसीना-पसीना हो गया। "नाच न जाने आंगन टेढा" की बात पत्नि के सामने बनाने की सोची तो सही परन्तु पेट भरने के लिए जब कुछ भी नहीं है, खाने की समस्या है वहां बहाना किसके सामने बनाऊं ? बेचारा वृद्ध सिर पटक कर रोने लगा, चिल्लाने लगा। अब शंका हुई की मैंने जिसे पारसमणि समझा था वह सचमुच पारसमणि है कि सामान्य पत्थर मात्र है ? पारसमणि होती तो सोना क्यों नहीं बनता है। पारसमणि की सत्यता की पहचान ही लोहे को सोना बनाने में है। अब क्या करें ? पत्नी ने व्यंग किया—तो आपने ५०–६० वर्ष जान से भी ज्यादा संभालकर रखी तो क्या सीने पर पत्थर बांध कर रखा था। लोगों के सामने छिपाने

के लिए कहते थे कि नहीं···नहीं सीने में गांठ हुई है। इस तरह आपने जतन किया है और ५०–६० वर्ष के बाद आज यही नतीजा ! क्या बात है ? वृद्ध बेचारा बरफ की तरह ठंडा हो गया। काटो तो खून भी न निकले। किस पर रोउं ? पारसमणि के नाम पर ? या पत्थर के नाम पर ? या ५०–६० वर्ष संभाल के रखी उस पर ? आखिर किस पर रोना है ? किसी पर नहीं अपनी अज्ञानता पर रोना है। पत्नी ने कहा आपने अपनी बुद्धि से पारसमणि समझकर रख लिया परन्तु वास्तव में पारसमणि थी तो रखने के पहले ही परीक्षा करके देख लेते कि सचमुच पारसमणि है कि नहीं ? रखने के पहले ही दिन छोटे से लोहे के टुकड़े को सोना बनाकर देख लेते। ५०–६० साल तक फिजुल में संभाल रखी। और आज उसे पत्थर समझ कर फेंकने के दिन आए। अब सिर पर हाथ देकर रोने के सिवाय क्या विकल्प रहा। न फेंकने की हिम्मत न रखने की समझ क्या करें ? अफसोस के सिवाय क्या कहें ?

शायद भगवान के विषय में भी कुछ ऐसी ही बात है। हम भी जिन्दगी के ५०–६० साल से ईश्वरोपासना कर रहे हैं। मोक्ष दाता, सर्व गुणसम्पन्न, सर्वज्ञ वीतराग समझकर जिसको भगवान कह रहे हैं, ऐसा न हो कि ५०–६० साल के बाद अन्त में वह रागी–द्वेषी देव न निकल जाय। कोई स्वर्गीय देव-देवी ही न हो। जो सर्वज्ञ वीतरागी न हो और हमारे ही जैसा दोषयुक्त, राग–द्वेष वाला रागी–द्वेषी न हो। यह यदि वर्षों बाद पता चले तो कैसा होगा ? जैसी उस पारसमणि वाले वृद्ध की दशा हुई वैसी ही हमारी दशा होगी। सिर पर हाथ रखकर रोने के दिन आएंगे। अतः अच्छा तो यही होता कि हम उपास्य तत्व की उपासना करने के पहले ही उसका सही स्वरूप समझकर फिर उसकी उपासना करते। इसीलिए ईश्वर परीक्षा करने के लिए महापुरुषों ने अनुमति दी है।

हम ईश्वर की क्या परीक्षा करें ?

सामान्य मानवी यह सोचता है कि हम क्या ईश्वर की परीक्षा करें ? हमारी क्या बुद्धि है ? जो हम ईश्वर की परीक्षा कर सकें ? करें तो भी कैसे करें ? इस विषय में हमें अनुचित सा लगता है। अनधिकार चेष्टा लगती है। सर्वज्ञ की परीक्षा हम अल्पज्ञ क्या करें ? आपकी बात भी सही लगती है। समान्य मानवी ईश्वर की परीक्षा करने की हिम्मत भी नहीं करता। यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है।

परन्तु थोड़ा सोचिए। हमारे पूर्वज महापुरुषों ने हमको ऐसी अनुमति क्यों दी होगी। क्या वे नहीं समझते थे कि हम अल्पज्ञ है? बात सही हैं, परन्तु हम बाजार में सोना खरीदने जाएं और लाख रुपए देकर खरीद भी लें। परन्तु वर्षों बाद यदि वह सोना पीतल है, ऐसा पता चले तब क्या होगा? तब सिर पर हाथ देकर रोने के दिन आएंगे। हाय मेरे लाख रुपए गए। सोना भी गंवाया और लाख रुपए भी गंवाए। तब कैसी परिस्थिति निर्माण होगी उसके बारे में सोच लेना। उसी तरह ईश्वर की उपासना जीवन भर करने के बाद वह ईश्वर रागी-द्वेषी है, सर्वज्ञ नहीं है ऐसा पता चला तो फिर क्या होगा? अतः उपासना के पहले ही उपास्य को पहचानना जरूरी है।

ईश्वर विषयक भिन्न-भिन्न मान्यताएँ

वर्तमान संसार में विद्यमान भिन्न-भिन्न धर्मों में ईश्वर विषयक मान्यता है। ईश्वर ही केन्द्र स्थान में है। चाहे ईश्वरवादी मान्यता वाले हों या निरीश्वरवादी मान्यता वाले धर्म हों, उन्होंने भी शुद्धात्मा, मुक्तात्मा, परमात्मा की बाते की हैं। ईश्वर विषयक मान्यताएं भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। मानने का स्वरूप भिन्न है। वैदिक धर्म में ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में माना गया है। बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध जो कि इसके आद्य प्रवर्तक थे, उनको बुद्ध पुरुष के रूप में माना गया। परन्तु बौद्ध धर्म ने सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं माना है। जैन दर्शन ने सृष्टिकर्ता ईश्वर को ईश्वर नहीं माना है, अतः इसे निरीश्वरवादी कह दिया है। परन्तु परमात्मा अरिहंत को भगवान के स्वरूप में माना गया है। परमात्मा वीतराग स्वरूप है। सर्वज्ञ है। सर्वावरण रहित है। सर्वकर्म दोषमुक्त है। परमपद प्राप्त है। अतः शुद्ध-विशुद्ध आत्मा की परमात्मावस्था है। मुक्तात्मा-सिद्धात्मा का स्वरूप सर्वथा कर्ममुक्त है। जन्म-मरण एवं संसारचक्र से मुक्त है। अतः अवतारवाद भी जैन-दर्शन ने नहीं स्वीकारा है। प्रत्येक आत्मा आत्मद्रव्य स्वरूप से एक जैसी है। कर्मभेद से भेद है। उदाहरणार्थ आभूषण आकृति भेद से भिन्न-भिन्न दिखाई देते हुए भी मूलभूत सुवर्ण द्रव्य की दृष्टि से एक से ही हैं। उसी तरह कर्मोपाधि जन्य देह भेद से भिन्न-भिन्न होते हुए भी आत्म द्रव्य की दृष्टि से एकरूपता है। साम्यता है। अनन्तात्मा स्वीकारने वाले जैन-दर्शन ने एक ही सर्वोपरि सत्ता को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं किया है। कोई भी आत्मा स्वकर्मों का क्षय करके उस विशुद्धि की कक्षा तक पहुँचकर परमात्मपद प्राप्त कर सकती है। सर्व कर्म मुक्त मुक्तात्मा पुनः संसार में नहीं लौटती। अतः अवतारवाद की मान्यता जैन-दर्शन को मान्य नहीं है। सर्वोपार्जित कर्मानुसार ही जीव कर्मफल-भोग प्राप्त करता है अतः कर्मफल दाता के रूप में भी ईश्वर को स्वीकारा नहीं गया है।

न्याय-मतानुसार ईश्वर जगत्कर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता के रूप में है। वह जगत् का निमित्त कारण है। वह जीवों के कर्मों का निर्देश करता है। ईश्वर ही जीवों के अदृष्ट (कर्म) के अनुसार उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और ईश्वर फलदाता के रूप में है। वही फल देता है। ईश्वर विश्वकर्मा है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता भी है, पालनकर्ता भी है और वही सृष्टि का प्रलय भी करता है। वही सर्व शक्तिमान है, ऐसी मान्यता है। वैशेषिकों ने विशेष भेद यह किया कि परमाणु-वाद को सृष्टि सम्बन्धी कारण माना है। लेकिन परमाणुवाद मानकर भी परमाणुओं के संचालक के रूप में ईश्वर को स्वीकारा है। ईश्वर इच्छा ही बलवान है। परमाणुओं के संयोग-वियोग एवं गति आदि में ईश्वरेच्छा ही कारण है। अतः ईश्वर की इच्छा हो तब वह सृष्टि की रचना एवं प्रलय आदि कर सकता है।

सांख्य दर्शन में सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य दोनों पक्ष चलते हैं। सांख्य मत सृष्टिकर्ता के पक्ष में नहीं है। प्रकृति-पुरुष आदि २५ तत्वों की व्याख्या सांख्य दर्शन ने बैठाई है। पुरुष शुद्ध चैतन स्वरूप राग-द्वेष से परे है। प्रकृति से भिन्न होकर वह अपना शुद्ध स्वरूप स्थिर रख सकता है। पुरुष ईश्वर रूप में नहीं है। वह प्रकृति के व्यापारों का द्रष्टा है। वह जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त है।

ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाला सेश्वर सांख्य मत ही 'योग-दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है, ऐसी धारणा है। महर्षि पतंजलि इसके मुख्य उद्भावक हैं। इसमें ईश्वर का अधिकतर व्यवहारिक महत्त्व है। योग सूत्र में कहा है कि—"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।" क्लेश-कर्म और उनके फलों से एवं वासनादि से असंस्पृष्ट पुरुष विशेष को ही ईश्वर कहा गया है। परम पुरुष ईश्वर स्वरूप है। वही परमानन्द रूप है। हिन्दू धर्म में, वैदिक परम्परा में ईश्वर को ब्रह्मा-विष्णु और महेश के तीन रूपों में माना गया है। एक सृष्टि की रचना करता है। विष्णु सृष्टि का पालनहार है। महेश को प्रलयकारी संहारकर्ता के रूप में स्वीकारा गया है। ईश्वर के ही हाथ में सभी जीवों के कर्म फल देने की सत्ता है। ईश्वर ही जगत् का नियन्ता है। अतः ईश्वर इच्छा ही बलवान है। ईश्वरेच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। यहां अवतारवाद माना गया है। एक ही ईश्वर पुनः पुनः जन्म लेते हैं। आते हैं। अतः एकेश्वरवाद की कल्पना है। जीव को ईश्वर का ही अंश माना गया है। यह मान्यता वैदिक परम्परा की है।

मीमांसा मत पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा—ये ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते है। यहां ईश्वर से भी ज्यादा वेद को महत्त्व देते हुए

वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया गया है। जगत्कर्तृत्व वाद का मीमांसक खण्डन करते हैं। कर्म प्रधानता मानी गई है। उत्तर मीमांसा ही वेदान्त दर्शन कहा जाता है। ब्रह्म का इसमें मुख्य वर्णन है। इसमें भी शांकरवेदान्त, रामानुज-वेदान्त, निम्बार्क-वेदान्त, माध्व वेदान्त, वल्लभ वेदान्त आदि कई भेद हैं। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ सबकी मान्यता में भेद हैं। रामानुज वेदान्त के अनुसार ईश्वर अनन्त, ज्ञानवान्, आनन्दरूप सद्गुणयुक्त, विश्वस्रष्टा, पालक और संहारक, चारों पुरुषार्थों का दाता, इच्छारूप धारण करने वाला है। ब्रह्म सगुण है। वह पुरुषोत्तम है। शांकरमतानुसार ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर जीवों का नियन्ता है। शैवमत-वैष्णव मत आदि कई मत हैं। कुछ भेद के साथ सभी सेश्वरवादी मान्यता रखते हैं।

सिख धर्म में ईश्वर एक है। एक ईश्वर सबका पिता माना गया है। वही सब कारणों का कारण है। ईश्वर एक ही है। सिख भी सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को मानते हैं। एक स्वयंभू, स्वयं अवलंबित ईश्वर ने ही यह संसार बनाया है। सब पर उसी का शासन है। ईश्वर अनंत, अकाल और निरंकार है। ईश्वर सर्व-व्यापी है।

पारसी धर्म में ईश्वर कल्पना की गई है। आहुर-मज्दा आत्मा रूप है। वह परम मंगलकारी है। वे सारी पृथ्वी से ऊपर स्वर्ग में हैं। जरथुष्ट्र ने यह कल्पना जगत् को देते हुए ईश्वर का स्वरूप बताया है। सर्वोच्च सत्ता के लिए आहुर-मज्दा के नाम का ईश्वर के लिए प्रयोग किया गया है। सर्वश्रेष्ठता बताई गई है। वही सर्व-सर्वा सर्व रूप में है।

ईसाई धर्म ईसा मसीह से चला है। ईसा ने अनन्त दयालु के रूप में ईश्वर को बताया। वह मनुष्य पर अत्यधिक प्रेम करता है। अतः ईश्वर को प्रेम व दया का प्रतीक माना है। ईश्वर को ही सर्व सुख दाता के रूप में स्वीकारा है। वही परम पिता के रूप में है। परम सत्ता के रूप में है। ईश्वर को स्रष्टा है और उद्धारक भी माना है। ईश्वर एक ही स्रष्टा है और शेष सारी सृष्टि उनकी रचना है। वह देश-काल की सीमाओं से परे है। ईश्वर सतत कार्यरत है यह भी कहा है। ईश्वर की इच्छा ही संसार को चलाती है। ईश्वर स्वभाव से प्रेम स्वरूप दयालु है। वह सर्वोपरि सर्वस्वामी के रूप में हैं। अवतारवाद को ईसाई मानते जरूर है पर यह कहते हैं कि ईश्वर का पुत्र धरती पर आता है। उसे ईश्वर ने बनाया है, उसी ने भेजा है। ईसाई मत भी सृष्टि कर्तृत्ववादी ईश्वर के विचार में अन्य जगत्कर्तृत्ववादी पक्ष से काफी मिलता-जुलता है।

इस्लाम धर्म में ईश्वर को इन मुख्य ७ शब्दों से समझा जाता है जो कि ईश्वर के गुण स्वरूप के द्योतक है १. हयाह (जीवन), २ इल्म (ज्ञान), ३. कद्र (शक्ति) ४. इरादा (इच्छा), ५. सम (श्रुति) ६. बशर (दृष्टि) ७. कलाम (वाणी)। इस्लाम के अनुसार ईश्वर का कोई समानधर्मा समानान्तर नहीं है। ईश्वर को त्रिकालज्ञ मानते हैं। वही स्रष्टा है। कुरआन में कहा है कि ईश्वर की वाणी को पैगम्बर के द्वारा ही सुना जा सकता है। अतः पैगम्बर पुनः पुनः होते हैं। अल्लाह एक है। ईश्वर सर्व शक्तिमान, सब कुछ दृष्टा है इस्लाम में भी ईश्वर इच्छा ही बलवान कही गई है। वह अपनी मर्जी से सब कुछ कर सकता है। वही रहमतगार, बंदा-परवर है। रोटी देने वाला है, सब कुछ देने वाला है। वह अदृश्य है। इस तरह कुरआन धर्म ग्रन्थ है जो ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित करता है।

ये जगत के प्रमुख धर्म व दर्शन हुए। इसी तरह और भी हैं। यहूदी धर्म, ताओ धर्म, शिंतो धर्म, कन्फ्युशीयस धर्म, आदि अनेक हैं। इन सब में प्रायः सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकारा गया है। और और साम्यता अनेक प्रकार की मिलती है। ईश्वर को एक मालिक स्वामी के रूप में देखा गया है। उसकी इच्छा पर ही सारा आधार रखा गया है। प्रायः ईश्वरवादी मान्यता वाले विचार कई अंशों में परस्पर मिलते-जुलते हैं। बात का स्वरूप भिन्न होते हुए भी हेतु मिलता-जुलता है।

ईश्वरवाद एवं निरीश्वरवाद

ईश्वरवाद से सिर्फ ईश्वर के अस्तित्व को ही मानना ऐसी बात नहीं है अपितु सृष्टि कर्ता के रूप में, जगत् कर्तृत्व के रूप में ईश्वर को स्वीकारना ईश्वर-वादी का प्रमुख अर्थ है। इसलिए हिन्दु सिख, न्याय, वैशेषिक मतवादी, इस्लाम और ईसाई आदि प्रमुख धर्म ईश्वर को सृष्टि कर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। ईश्वरवाद का ठीक विपरीत शब्द निरीश्वरवाद जब आता है तब इसका ऐसा विपरीत अर्थ नहीं है कि निरीश्वरवादी धर्म ईश्वर सत्ता को मानते ही नहीं है। ऐसी बात नहीं है। अर्थ का विचार करने से पता चलता है कि निरीश्वरवादी धर्म सिर्फ जगत्कर्ता, सृष्टि के स्रष्टा के रूप में ईश्वर को नहीं स्वीकारते। अतः वे निरीश्वरवादी-या अनीश्वरवादी कहलाए। परन्तु अनीश्वरवादी ने भी परमात्म स्वरूप को आत्मगुणैश्वर्यसम्पन्न पूर्ण शुद्ध-सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप में मानकर उपासना अवश्य की है। उदाहरणार्थ जैन धर्म, मीमांसक, तथा सांख्य और योग दर्शन ये प्रमुख रूप से निरीश्वरवादी जरूर हैं अर्थात् सृष्टिकर्ता के रूप में, संसार के निर्माता या नियन्ता या संहारक के रूप में या इच्छा के केन्द्र के रूप में ईश्वर को नहीं स्वीकारते

है। परन्तु बौद्ध धर्म में तथागत बुद्ध को बोधिज्ञान संपन्न महापुरुष भगवान माना गया है। जैन धर्म में आत्मा ही जो परमात्मा बनती है वही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतरागी, अरिहंत, तीर्थंकर, सर्व कर्म रहित, सर्वदोष मुक्त, सर्व विशुद्धावस्था में बिराजमान सिद्ध-बुद्ध-मुक्त को परमेश्वर माना गया है। हां वह वीतराग होने से इच्छा तत्त्व से रहित है। चूंकि इच्छा भी राग का ही पर्यायवाची शब्द है। अतः राग द्वेष ये कर्म जन्य मानवी स्वभाव है जिसमें इच्छा अनिच्छा का प्रश्न आता है। परन्तु परमेश्वर परमात्मा इस इच्छा तत्त्व से (रागादि भावों से) मुक्त है अतः वह जगत को स्वइच्छावश फल देने वाला नही रहता। ईश्वरवादियों ने इच्छा का बल ईश्वर के हाथ में दे दिया है। इसलिए उसे ही जगत के सभी जीवों के कार्य-क्रिया का केन्द्र माना गया है। अतः ईश्वर की इच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। जैन धर्म ने निरीश्वरवादी धर्म होते हुए कर्म एवं कर्मफल, सृष्टि-संसार रचना, एवं जगत व्यवस्था आदि सभी ईश्वरवादी प्रश्नों को सुलझाया है। सभी का उत्तर हैं। सृष्टि आदि का सुव्यवस्थित उत्तर देते हैं। इतना ही नहीं जड कर्मों के हाथ में कर्म फल की सत्ता का कार्य है। अतः ईश्वर का स्वरूप विकृत न करते हुए परम विशुद्ध बताया है। उसकी उपासना सर्व कर्म क्षय हेतु के उद्देश्य से मोक्ष प्राप्ति के फल की प्राप्ति से करने की विशुद्ध साधना पद्धति बनाई है। कर्म फल दाता के रूप में ईश्वर को जीवों के कृत-कर्म के विपाक स्वरूप दुःख सजादि का कारण क्यों मानें? क्यों ईश्वर को मानवी के सुख-दुःख का कारण मानें? कर्म फल के रूप में ईश्वर को बीच में गिरा कर ईश्वर के हाथ गन्दे करना या विशुद्ध ईश्वर के स्वरूप को विकृत करना जैन धर्म ने उचित नहीं समझा। सर्व प्रकार की विकृतियों को दूर हटाकर ईश्वर के स्वरूप को जितना हो सका उतना शुद्ध-विशुद्ध-परमशुद्ध रखा। अतः ईश्वर को सर्व दोष रहित, कर्म मुक्त, क्लेश-कषाय-कल्मष-कर्म रहित माना, राग-द्वेष रहित वीतराग माना, अज्ञान, अल्पज्ञान रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी माना, विजेता के रूप में जिन जिनेन्द्र, जिनेश्वर माना है। मोक्षमार्ग उपदेशक के रूप में तीर्थंकर अरिहंत माना है। इतना ही नहीं निरीश्वरवादी जैन दर्शन भी ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं, किसी विशेषण के साथ ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं—उदाहरणार्थ परम + ईश्वर = परमेश्वर, जिन + ईश्वर = जिनेश्वर इत्यादि शब्द प्रयोग में प्रतिदिन लाते हैं। परन्तु इसमें सृष्टि कर्ता के अर्थ की ध्वनि नहीं है। परम का अर्थ है जो पामर नहीं है, परम उच्च, परम विशुद्ध पद पर बिराजमान हे परमेश्वर!! जिन राग-द्वेषादि को सर्वथा जीत लेने वाले ईश्वर हे जिनेश्वर! के नाम से संबोधित करते हैं। न केवल ईश्वर अर्थात् स्वामी या मालिक के अर्थ में नहीं। चूंकि जैन ईश्वर को जगत् का पिता, नियंता, नियामक आदि नहीं मानते है।

अतः निरीश्वरवादी का सिर्फ इतना ही अर्थ स्पष्ट होता है जो ईश्वर को सृष्टि कर्ता हर्ता, धर्ता, धाता-विधाता के रूप मेंन हीं मानता है। सिर्फ अर्थ भेद है। अतः ईश्वर विषयक मान्यता जरूर है, भले ही कर्ता के रूप में न मानकर अर्थ भेद से अन्यार्थ में माना है। चूंकि अनिवार्य नहीं है कि ईश्वर को सभी सृष्टिकर्ता के रूप में ही मानें? व्याकरण आदि की दृष्टि से या व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से भी ईश्वर शब्द की व्युत्पत्ति सृष्टि कर्ता, हंता या नियंता आदि के रूप में ही नहीं है। अतः जैन दर्शन जो एक स्वतंत्र धारा है उसने ईश्वर को आत्मगुणैश्वर्य संपन्न, परम शुद्ध पद प्राप्त परमेश्वर स्वरूप में स्वीकारा है। जगत् कर्तृत्ववादी मान्यता वाला जरूर नहीं है। चूंकि माया, अविद्या या प्रकृति के हाथ में अन्य दार्शनिकों ने जैसे कर्तृ शक्ति प्रदान की है उसी तरह जैन दर्शन ने कर्म के हाथ में कर्तृ शक्ति प्रदान की है और कर्म को तथा कर्म फल की लगाम ईश्वर के हाथों में न पकडाकर जीव के ही हाथ में रखी है। कर्तृत्ववादी दर्शनों ने ईश्वर का स्वरूप जितना विकृत किया है जैन दर्शन ने उतना ही विशुद्ध बताया है। अतः जगत्कर्तृत्ववाद के एक अंश के अर्थ में जैन दर्शन अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादी कहा भी जाता हो तो भी अन्य अर्थ में जैन दर्शन को विशुद्धेश्वर वादी कहना ज्यादा सुसंगत सिद्ध होता है। अतः जैन दर्शन को नास्तिक कहना भी सुसंगत नहीं है। युक्ति संगत भी नहीं है एवं प्रत्यक्ष विरुद्ध है। चूंकि लाखों मंदिर हैं, लाखों प्रतिमाएँ हैं। प्रति दिन पूजा-पाठ करने वाले जैन को नास्तिक कहना सूर्य को काला कहने जैसी बात है।

सृष्टि कर्तृत्ववाद की समालोचना

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं उस ईश्वर को सृष्टि कर्ता के रूप में मानना कहां तक न्याय संगत है? यह समीक्षा भी यहां अवकाश मांगती है। तर्क-युक्ति पर इसका आधार है। ईश्वर में जो बातें नहीं हैं वह यदि हम हमारी तरफ से आरोपित करके ईश्वर का स्वरूप हमारी अपनी दृष्टि के अनुरूप बनाएगे तो निश्चित ही ईश्वर का स्वरूप विकृत हो जाएगा। शायद मानव ने ही अपने स्वार्थ-वश ईश्वर का स्वरूप विकृत किया है। हमारे पूर्वज न्यायविशारद, तर्कवादी, युक्ति साम्राज्य वाले, कई आचार्य, भगवंतों ने ईश्वरवाद के ऊपर समीक्षा की है। काफी परामर्श इस विषय पर किया है जिनमें सिद्धसेन दिवाकर सूरि, हरिभद्रसूरि, वादि-देव सूरि, हेमचन्द्राचार्य, महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज, विद्यानंदी आदि धुरंधर विद्वानों ने तर्क युक्ति पूर्वक ईश्वरवाद की समालोचना की है। इस विषय के अनेक अकाट्य ग्रंथों की रचना की है। स्याद्वाद रत्नाकर, प्रमाणनय तत्त्वालोक, सर्वज्ञ सिद्धि, सन्मति तर्क प्रकरण, स्याद्वाद मञ्जरी, शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्याद्वाद कल्प-लता टीका, न्यायखण्डन खाद्य आप्त परीक्षा आदि अद्भुत, अनुपम युक्ति सभर

ग्रन्थ अवश्य दर्शनीय हैं। विचारणीय है। यहां प्रस्तुत विषय में हेमचन्द्राचार्य विरचित अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका ग्रन्थ की पू. मल्लिषेण सूरिविरचित टीका स्याद्वाद-मञ्जरी के एक श्लोक को लेकर थोड़ी उपयोगी विचारणा करें—

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमा कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥

सामान्यार्थ इस प्रकार है–हे नाथ ! जो लोग ऐसा कहते हैं कि जगत् का कोई कर्ता है, वह एक ही है, वही सर्व व्यापी है, स्वतन्त्र है, और नित्य है इत्यादि दुराग्रह से परिपूर्ण सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं उनका तू अनुशास्ता नहीं हो सकता। हे प्रभु ! तू उनका उपास्य नहीं हो सकता।

ईश्वरवादी दर्शन जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता–जगत् कर्ता के रूप से स्वीकारते है उनका कहना है कि यह संसार जो तीन लोक स्वरूप है, विराट ब्रह्माण्ड-विश्व स्वरूप है वह किसी के द्वारा बनाया हुआ है। पृथ्वी, पर्वत, नदी-नद-समुद्र, वृक्षादि जो जो भी कार्य हैं उसका कारण कोई अवश्य होना चाहिए। चूंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। जैसे बिना अग्नि के धूंआ नहीं निकालता उसी तरह बिना कारण के कार्य कैसे हो सकता है तथा पृथ्वी, पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्षादि ये सब कार्य है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है तो फिर इनका कोई कर्ता, बनाने वाला कारण रूप होना तो चाहिए। न हो तो यह सृष्टि विश्व तीन लोक, इतनी बडी पृथ्वी, महा समुद्र आदि सब कैसे बने ? यदि कोई बनाने वाला ही न हो तो इनकी सत्ता भी नहीं स्वीकारनी चाहिए। और ये तो सब प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तो इनका कारण भी स्वीकारना चाहिए। वही अदृष्ट कर्ता ईश्वर ही इन सबका बनाने वाला कारण रूप में है। उसे ही जगत् कर्ता, सृष्टि का रचयिता इत्यादि शब्दों से कहते हैं। जैसे घडा-वस्त्र आदि कार्य हैं तो उनको बनाने वाला कुम्हार, बुनने वाला वणकर आदि कर्ता के रूप में हैं। वैसे ही पृथ्वी आदि कार्य को बनाने वाला ईश्वर है। कुम्हार घड़ा बना सकता है परन्तु वह पृथ्वी-पर्वतादि तो नहीं बना सकता। परन्तु ये पृथ्वी-पर्वतादि तो बने प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं तो फिर इनका कर्ता कोई अदृश्य होगा, पर होगा सही। वही सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी ईश्वर है।

यह तो ईश्वरवादी का पक्ष हुआ परन्तु यहां प्रश्न यह है कि आप ईश्वर को पृथ्वी आदि का कर्ता मानते हैं ठीक है, परन्तु वह ईश्वर शरीरधारी है कि मुक्तात्मा

की तरह अशरीरी है ? जैसे कुम्हार सशरीरी है तो घड़े बना सकता है। उसी तरह सशरीरी अर्थात् शरीर वाला ईश्वर हो तो ही पृथ्वी पर्वतादि बना सकेगा। अशरीरी मुक्तात्मा शरीर के अभाव में कार्य कैसे करेगा ? अच्छा अब आप कहेंगे कि ईश्वर सशरीरी है। सशरीरी होकर ही पृथ्वी आदि बनाने का काम करता है तो बताइये कि ईश्वर के शरीर की रचना किसने की ? फिर वही बात आएगी यदि ईश्वर ने ही अपने शरीर की रचना की ऐसा कहोगे तो पहले अशरीरी ईश्वर और वह शरीर की रचना कैसे करेगा ? मुक्तात्मा जो अशरीरी हैं वह तो शरीर रचना करते ही नहीं हैं। अन्यथा पुनः संसार में गिरने की आपत्ति खडी होगी। अतः आप इसका उत्तर क्या देंगे ? अशरीरी ईश्वर की शरीर रचना किसी दूसरे ईश्वर ने की ऐसा कहेंगे तो उस दूसरे ईश्वर की शरीर रचना किसने की ? तीसरे ने। तो तीसरे की किसने की ? चौथे ने !..... चौथे की किसने की ?..... इस तरह इसका तो कहीं अन्त ही नहीं आएगा। अनावस्था दोष आएगा। यदि मनुष्योत्पत्ति की तरह माता के गर्भ से उत्पत्ति मानें तो फिर माता-पिता को किसने बनाया ? तो फिर ईश्वर के पहले भी सृष्टि माननी पडे तो ईश्वर का सृष्टि कर्तृत्व निरर्थक सिद्ध हो जाएगा। अशरीरी मानने पर कार्य रचना संभव नहीं है।

यदि आप यह उत्तर दें कि ईश्वर का शरीर हमारे जैसा दृश्य शरीर नहीं था वह तो पिशाच-भूतादि की तरह अदृश्य शरीर था। तो क्या ऐसा पिशाच जैसा शरीर बनाने में ईश्वर का माहात्म्य विशेष कारण है कि हम लोगों का दुर्भाग्य ? यह भी ठीक नहीं है। अदृश्य शरीर से ही माहात्म्य बढे और माहात्म्य के कारण ही अदृश्य शरीर बनाए तो अन्योन्याश्रय दोषग्रस्तता आएगी अथवा हमारे दुर्भाग्यवश पिशाचादि की तरह अदृश्य शरीर करेगा तो ईश्वर को पिशाचादि रूप में मानना पडेगा। घडा, वस्त्रादि तो सशरीरी के बनाए हुए हैं तो पृथ्वी, समुद्रादि अशरीरी के द्वारा बनाए गये हैं यह कौन मानेगा ? चूंकि वे भी कार्य हैं तो सशरीर जन्य हैं ऐसा मानना पडेगा। अतः यह युक्ति सिद्ध नहीं होती है।

कालादि की अपेक्षा से विचार करें तो ऐसा प्रश्न खडा होता है कि सृष्टि-कर्ता कब उत्पन्न हुआ ? यदि सृष्टि कर्ता सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया ? या किसी अन्य कारण से ? माता-पितादि के कारण या किस कारण ? यदि सृष्टि कर्ता ईश्वर स्वयम्भू है, अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो फिर संसार भी अपने आप उत्पन्न हो सकता है यह मानने में क्या आपत्ति है ? चूंकि संसार में अनन्तात्मा हैं। जड़ पुद्गल परमाणुओं के साथ जीव संयोग करके स्वयं उत्पन्न होता है। उसी तरह मानना पडेगा।

अस्तित्त्व ईश्वरास्तित्त्व के पहले स्वीकारना पड़ेगा। यदि यह स्वीकार करें तो ईश्वर की उत्पत्ति के पहले भी सृष्टि थी यह स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि आप यह कहो कि जगत्कर्ता की सत्ता सादि नहीं अनादि है तो उसी के साथ जगत् को भी अनादि मानना पड़ेगा। अनादि तत्त्व यदि सिद्ध होगा तो अनादि की तो उत्पत्ति नहीं होती। अनादि द्रव्य तो अनुत्पन्न होता है। जैसा कि आप ही कहते हैं कि आकाश अनादि द्रव्य है। आकाश पदार्थ ईश्वर के द्वारा बनाया नहीं गया है। अनादि यदि आकाश है और उसी की तरह समस्त जगत् अनादि मान लेंगे तो ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध हो जायगी। ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध हो यह भी ईश्वर वादी को ईष्ट नहीं है। परन्तु ईश्वर की कर्तृता और जगत् की अनादिता दोनों तो एक साथ रह नहीं सकती। चूंकि परस्पर विरोधी है इसलिए। अब यदि जगत् की अनादिता सिद्ध होती है तो ईश्वर के द्वारा प्रलय किया जाता है, संहार किया जाता है यह पक्ष भी नहीं ठहरेगा। ईश्वर की तीनों अवस्था टिकाए रखने के लिए जगत् को भी सादि-सान्त माना है और तभी ही ईश्वर का कर्तृत्व टिकेगा।

दूसरी तरफ यह कहते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि कैसी बनाई? किस तरह बनाई? इसके उत्तर में वेद में लिखा है कि "धाता यथा पूर्वमकल्पयेत्"। धाता = विधाता ने जिस तरह इसके पूर्व के कल्प में जैसी सृष्टि रचना की थी वैसी ही सृष्टि इस कल्प में ईश्वर करता है, बनाता है। यह कैसे पता चला कि पूर्व कल्प में ऐसी सृष्टि बनाई थी? इसके उत्तर में कहते हैं कि वेद में देखा। वेद को अपौरुषेय कहा है। वेद किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है। किसी के द्वारा कहे नहीं गए हैं। वेद अनुत्पन्न अनादि-अनन्त-अपौरुषेय है यह कल्पना की गई है। ईश्वर सादि-सान्त सोत्पन्न है। ईश्वर भी वेद का कर्ता नहीं है। वेद में जैसा लिखा था जिस प्रकार लिखा था उसी प्रकार के वेद पाठ देखकर ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है। यहां थोड़ी सोचने जैसी बात यह है कि ईश्वर को सर्वज्ञ-सर्वव्यापी सर्व शक्तिमान सर्वेश्वर मानकर भी वेद के आधीन बना दिया। सर्व तंत्र स्वतन्त्र मानकर भी परवश-पराधीन बना दिया। ईश्वर सर्वज्ञ हैं कि वेद सर्वज्ञ हैं? इसके बारे में क्या कहेंगे? वेद में लिखे अनुसार यदि ईश्वर सृष्टि रचना करता है तो फिर ईश्वर की सर्वज्ञता तो असिद्ध हो ही गई और अल्पज्ञता सिद्ध हो जाती है।

अच्छा दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर वेद में लिखे पाठानुसार सृष्टि निर्माण करता है, सृष्टि सदा सर्वदा एकसी रहनी चाहिए। सभी युगों में सृष्टि एक जैसी ही बननी चाहिए। लेकिन नहीं सभी युगों में सृष्टि की साम्यता भी तो स्वीकार नहीं की है। द्वापर युग में सृष्टि ऐसी थी, त्रेता युग में कुछ अलग थी, सत् युग में जैसी सृष्टि थी वैसी आज कलियुग में नहीं है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। जबकि जैसी पूर्व कल्प में थी वैसी ही सृष्टि यदि वेद में देखकर ईश्वर बनाता है तो हमेशा एक सरीखी सृष्टि होनी चाहिए थी। लेकिन यहां भी विसंगतता है। अतः यह पक्ष भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है।

सृष्टि में विषमता और विचित्रता क्यों ?

अच्छा चलो मान भी लें कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने यह सृष्टि निर्माण की है तो ईश्वर ने सृष्टि में सैंकड़ों विसंगतियां क्यों रखी हैं ? ऐसी विषम सृष्टि क्यों निर्माण की है ? जबकि सर्वज्ञ ईश्वर दयालु है। परम करुणालु है। दया का भण्डार और करुणा का सागर है। और कुछ ईश्वर में मानें या न मानें परन्तु ईश्वर में राग-द्वेष रहितता तो माननी ही पड़ेगी। चूंकि मनुष्य-पशु-पक्षी सभी राग-द्वेष ग्रस्त जीव है। और यदि ईश्वर भी रागादि युक्त हो तो ईश्वर में क्या श्रेष्ठता रही ? फिर तो रागादि भावों से युक्त मनुष्य-पशु-पक्षी और ईश्वर रागादि की कक्षा में सभी समान समकक्ष हुए। यदि रागादि रहते हुए भी ईश्वर को ईश्वर-महान-सर्वज्ञ कहेंगे तो उसी रागादि वाले मनुष्य को ईश्वर कहने में क्या आपत्ति है ? यदि मनुष्य को ईश्वर कहेंगे तो मनुष्य की सृष्टि कर्तृत्व शक्ति नहीं है। वह तो कुम्हार की तरह घड़े ही बना सकता है। नदी-नद-वृक्ष-पर्वत-पृथ्वी-समुद्रादि बनाने में सक्षम नहीं है। यदि रागादिमान ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहें तो सर्व सृष्टि एकसी एक सरीखी क्यों नहीं है ? सृष्टि में विषमता क्यों भरी पड़ी है ? क्या दयालु-करुणालु ईश्वर भी एक को राजा एक को रंक, एक को अमीर, एक को गरीब, एक को सुखी एक को दुःखी इत्यादि क्यों बनाता है। ऐसी विषम सृष्टि ईश्वर क्यों बनाता है ? यदि राग-द्वेष के आधीन ईश्वर हैं तो ही यह विषमता और विचित्रता है। यदि आप ना कहते हैं कि रागादि नहीं है तो विचित्रता-विषमता जो जगत् में प्रत्यक्ष गोचर है इसका क्या कारण है। यहां ईश्वरवादी उत्तर देते हैं कि ईश्वरेच्छा बलीयसी। सृष्टि की रचना करने के पीछे ईश्वर की इच्छा ही बलवान तत्त्व है। अच्छा आपने इच्छा तत्त्व मान लिया तो अब आप यह बताइये कि ईश्वर बड़ा कि इच्छा ? आप कहेंगे ऐसा भी क्या प्रश्न खड़ा हो सकता है ? ऐसा प्रश्न करना भी प्रश्नकर्ता की मूर्खता है। अच्छा भाई मैंने मेरी मूर्खता भी मान ली परन्तु उत्तर तो दीजिए। चूंकि आप ईश्वर को

दूसरी तरफ यदि संसार को अनादि मानते हैं तो अनादि की तो उत्पत्ति संभव नहीं है। जो उत्पन्न हो उसे अनादि कैसे कहेंगे? अतः न तो ईश्वर को अनादि कह सकेंगे और न ही सृष्टि को। जो अनुत्पन्न होता है वही अनादि होता है। जैसे कि आत्मा। आत्मा उत्पन्न द्रव्य नही है। अनादि अनन्त शाश्वत द्रव्य है। यह भी द्रव्य स्वरूप में है। फिर इसकी उत्पत्ति का कर्ता किसको मानेंगे? क्या ईश्वर को? कैसे ईश्वर आत्मा को उत्पन्न करता है तो आत्मा भी अनादि-अनन्त सिद्ध नहीं होगी, वह भी जड़ पदार्थवत् सादि सान्त सिद्ध होगा। तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध सिद्ध होगा। मृत्यु के समय "जीव गया" जीव जा रहा है, जीव जाने वाला है ऐसा व्यवहार करते हैं। शरीर गया, या शरीर जा रहा है ऐसा व्यवहार कोई नहीं करते है। जीवात्मा इस देह को छोड़कर जाती है फिर नश्वर देह को जला देते हैं। देह उत्पन्न हुआ था इसलिए नष्ट हो गया। आत्मा अनुत्पन्न थी इसलिए नष्ट नहीं हुई। अतः अनादि अनन्त का स्वरूप सही रहा। तो ही इसके आधार पर आगे स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, पूर्व जन्म-पुनर्जन्म की सिद्धि होगी और उपरोक्त बात न स्वीकार करें तो ये लोक-परलोकादि भी सब व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे। और व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे तो तीन लोक की अनन्त ब्रह्माण्ड की ईश्वर की सृष्टि असिद्ध सिद्ध होगी।

दूसरी बात यह भी है कि आकाश द्रव्य को जिस तरह नित्य शाश्वत माना गया है। अतः उसकी उत्पत्ति नहीं मानी गई है तो आत्मा भी शाश्वत द्रव्य है, उसकी उत्पत्ति मानने का कोई कारण नहीं रहता है। नैयायिक आत्मा, आकाश, काल, दिशा, मनादि नित्य द्रव्यों को अनुत्पन्न मानते हैं। अब सोचिए कि यदि ये नित्य पदार्थ पहले से ही थे, अनादि नित्य हैं तो फिर ईश्वर ने बनाया क्या? ईश्वर के पहले भी यदि सृष्टि थी तो फिर ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कहें कैसे? आद्य पुरुष कहें कैसे? उसी तरह ईश्वर ने कुम्हार की तरह यह सृष्टि बनाई है ऐसा वेद में कह कर ईश्वर को सबसे बडा महान कुम्भकार–कुलाल के रूप में ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा है कि—"**नमः कुम्भकारेभ्य कुलालेभ्यश्च**" उस महान कुम्हार रूप एवं कुलालरूप (वणकर) ईश्वर को नमस्कार हो जिसने इस सारी सृष्टि की रचना की है।

कुम्हार घडे बनाता है। कैसे बनाता है? मिट्टी-पानी लेकर मिश्रित करके पिण्ड बनाकर चाक के ऊपर दण्ड से घूमाकर घडे बनाता है। यह सर्व सिद्ध प्रत्यक्ष बात है कि कुम्हार मिट्टी आदि से घडे बनाता है। प्रश्न यह है कि कुम्हार घडे बनाता है कि मिट्टी-पानी बनाता है? जी नहीं मिट्टी-पानी का बनाने वाला कर्ता कुम्हार नहीं है। वह तो सिर्फ घडे का कर्ता है। मिट्टी-पानी जो पहले से विद्यमान

पदार्थ थे उनको लेकर कुम्हार ने उनके द्वारा घडे बनाए हैं। अतः सबसे बड़ा सृष्टि का रचयिता जिसको वेद में कुम्हारादि कहा गया है उसने यह सृष्टि कैसे बनाई? कुम्हार की तरह ही बनाई तो मतलब यह हुआ कि बनाने योग्य पदार्थ, घटक पदार्थ पहले से ही थे, केवल ईश्वर उनका संयोजन करने वाला संयोजक ही रहा। जैसा कि नैयायिक कहते हैं कि–परमाणु तो थे ही। परन्तु परमाणुओं को जोड़ने का, संयोजन करने का कार्य ईश्वरेच्छा से हुआ। परमाणुओं के मिश्रण से जिस तरह द्वयणुक, त्रयणुक, चतुर्णुक आदि बनते गए और इस तरह महा स्कंध बने। इस तरह जगत के अनन्त पदार्थ बने। परमाणु वाद पर सृष्टि का आधार रख कर भी परमाणु संयोजन में ईश्वरेच्छा का तत्त्व बीच में लाकर नैयायिकों ने वैज्ञानिकता सिद्ध नहीं की है। दूसरी तरफ अपने आप को महान तार्किक, तर्क रसिक कहने वाले एवं प्रत्यक्ष को भी अनुमान से सिद्ध करने वाले तर्कविलासी तर्क जीवी नैयायिकों ने ईश्वरेच्छा को सिद्ध करने के लिए कोई तर्क नहीं दिये यही बडा आश्चर्य है। ईश्वर इच्छा क्यों है? क्यों इच्छा तत्त्व परमाणुओं का संयोजन करे? कैसे करे? यहां कोई तर्क युक्ति नहीं है।

यदि ईश्वर विश्वकर्मा है जो कुम्हार कुविन्द-कुलाल की तरह सृष्टि की रचना करता है तो सृष्टि की रचना में सहायक घटक द्रव्य जो पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-आकाशादि की सत्ता यदि ईश्वर के पहले ही सिद्ध हो जाती है तो फिर ईश्वर ने क्या बनाया? यदि आप ये कहें कि ईश्वर ने तो सिर्फ पृथ्वी-पानी आदि के संयोजन संमिश्रण ही किया है तो फिर यह कार्य तो जीव भी करता ही था। और ईश्वर के पहले ये पदार्थ थे तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता क्यों कहें? नगर कर्ता भवन कर्ता आदि ही कहना पडेगा। जैसा कि कुम्हार को घट कर्ता कहते हैं न कि मिट्टी-पानी का कर्ता। तन्तुवाय-कुलाल-कुविद को वस्त्र का कर्ता कहते हैं न कि रूई कपास का कर्ता। इस तरह ईश्वर का सृष्टि कर्तृत्व ठहर नहीं सकता।

सृष्टिकर्ता ईश्वर यदि सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया? अच्छा मान भी लें। यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो जगत् अपने आप क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता? जगत् को भी स्वयंभू मानने में क्या आपत्ति है? जड़-चेतन पदार्थों के संयोग-वियोग और जड़ पदार्थों में भी घात-संघात-विघात की प्रक्रिया चलती ही है जिससे गुण धर्मादि में परिवर्तन आते ही रहते हैं तो इस तरह वहां बीच में ईश्वर को लाने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि यह पूछा जाय कि ईश्वर स्वयंभू नहीं है और सादी है तथा उसकी उत्पत्ति में अन्य कारण हैं। यदि अन्य कारण मानते हैं तो उन कारणों का तथा कारण के घटक द्रव्यों का

इच्छा के आधीन बता रहे तो फिर ईश्वर बड़ा हुआ कि इच्छा ? क्या ईश्वर इच्छा के आधीन है या इच्छा के आधीन ईश्वर है ? यदि ईश्वर इच्छा के आधीन होकर सृष्टि की रचना करता है और उसी तरह कुम्हार-कुलालादि इच्छा द्वारा प्रेरित होकर, इच्छा के आधीन होकर ही घट-पट बनाता है तो मनुष्य ऐसे कुम्हार और ईश्वर में क्या अन्तर रहा ? दोनों में क्या भेद रहा ? दोनों ही इच्छा के धरातल पर समान गिने जायेंगे। तो फिर मनुष्य को तो इच्छा के बन्धन से मुक्त होने के लिए, इच्छा को सीमित करने के लिए, इच्छा पर विजय पाने के लिए उपदेश दिया जाता है और ईश्वर के लिए किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं है क्यों ? क्या इच्छा अच्छी है ? इच्छा क्या है ? इच्छा किसे कहते हैं इस विषय में उमास्वाति वाचकमुख्य पूर्वधर महापुरुष प्रशमरति में कहते हैं—

इच्छा, मूर्छा-कामः स्नेहो, गार्ध्यं ममत्त्वमभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्याय वचनानि॥

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाषा इत्यादि राग के पर्यायवाची शब्द हैं। यदि इच्छा ही राग का रूपान्तर है पर्यायवाची समानार्थक शब्द है तो फिर ईश्वर को रागदि युक्त ही मानना पड़ेगा। और रागादि युक्त हुआ तो वीतरागता नहीं रहेगी। वीतरागता का धरातल भूकम्प से हिलने लगा तो फिर उस पर रही हुई ईश्वरत्व की इमारत का स्थिर रहना सम्भव नहीं है।[1] रागादि कर्म जन्य है। शुभाशुभ कर्म ही रागादि के कारण हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है कि—**"रागो य दोषो वि य कम्म बीयं"** राग-द्वेष ही कर्म के बीज हैं। इन्हीं बीजों से सारा कर्मवृक्ष खड़ा होता है। यदि ईश्वर भी रागादि कर्म कारणों के आधीन होकर इच्छा से प्रेरित होता है और संसारस्थ मनुष्य पशु-पक्षी आदि सभी जीवों की भी यही दशा है। वे भी रागादि बीज जन्य कर्म कारणों के विपाक स्वरूप इच्छादि तत्त्व से प्रेरित होकर ही प्रवृत्ति करते हैं तो फिर दोनों में अन्तर क्या रहा ?

अच्छा चलो भाई मान भी लें कि इच्छा के आधीन ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तो ईश्वर ने एक को सुखी एक को दुःखी, एक को ऊँचा, एक को नीचा, एक को विष्ठा खाने वाला सूअर और दूसरे को मेवा-मिठाई खाने वाला क्यों बनाया ? यदि सब कुछ ईश्वर के आधीन है तो क्या ईश्वर अपनी सृष्टि अत्यधिक सुन्दर, निर्दोष, सर्व दोष क्षति रहित नहीं बना सकता है ? ऐसा क्यों ? वह ऐसी सृष्टि बनाए जिससे सृष्टि के मनुष्यादि भी ईश्वर को एक वाक्यता की प्रशंसा के शब्दों में

याद करें। लेकिन वह भी नहीं। एक तरफ संतान के अभाव वाले को संतान देकर दूसरी तरफ संतान की जन्म दाता माता को उठा लेता है। अब और भी समस्या बढ़ गई। ऐसे कारणों से ईश्वर की दया-करुणा के विषय में शंका उत्पन्न होती है। क्यों नहीं ईश्वर अपनी दया करुणा का उपयोग करता है जबकि उसमें पड़ी है तो?

हम वर्तमान विज्ञान युग में देखते हैं कि एक मशीन यदि लाखों वस्तुएं ग्लास आदि बनाती है तो वे लाखों ग्लास एक सरीखे बनाती है। एक से दूसरे में कोई भेद नहीं। परन्तु यहां ईश्वर की रचना में तो वह भी नहीं है। एक मां के चार पुत्र हैं तो वे भी वर्णादि में भी समान नहीं हैं। उसी तरह स्वभावादि में भी समान नहीं है। एक का स्वभाव दूसरे से नहीं मिलता, यह कैसी विषमता है। समुद्र का इतना पानी होते हुए सारा ही खारा है।

अच्छा यह पूछा जाये कि ईश्वर सृष्टि क्यों बनाता है? क्या ईश्वर का स्वभाव है? उत्तर में यदि हां कहते हैं कि सृष्टि निर्माण करना ईश्वर का स्वभाव विशेष है तो वह स्वभाव ईश्वर के साथ सदा ही रहेगा। यदि ईश्वर शान्त नहीं और नित्य है तो वह सृष्टि निर्माण का स्वभाव भी नित्य रहेगा। तो फिर उस स्वभाव के आधीन नित्य ईश्वर सदाकाल सृष्टि निर्माण का कार्य ही करता रहेगा। फिर वह सृष्टि निर्माण को छोड़कर अन्य कुछ भी करे यह सम्भव ही नहीं है। तो फिर नित्य ईश्वर नित्य काल तक निरन्तर सतत सृष्टि निर्माण करता ही रहेगा। यह सातत्य रहेगा। चूंकि ईश्वर स्व सत्ता से नित्य है और सृष्टि रचना का स्वभाव भी नित्य है तो सृष्टि रचना का कार्य भी निरंतर सतत चलता ही रहेगा। और यदि यह स्वीकार करेंगे तो सृष्टि को अपूर्ण ही माननी पड़ेगी। कभी भी सृष्टि पूरी रची गई है यह कह ही नहीं सकेंगे। चूंकि जो कार्य अविरत चल रहा है, चालू है उसे समाप्त हुआ यह कैसे कह सकेंगे? तो तो फिर नित्य ईश्वर सदा काल ही सृष्टि निर्माण करता रहेगा, तब तक सदा काल ही सृष्टि रचना पूर्ण हो गई है, यह कहना सम्भव भी नहीं होगा। हजारों लाखों साल के बाद भी पूछेंगे तो भी उत्तर यही मिलेगा कि अभी भी रचना कार्य जारी है। चल रहा है। अच्छा यह स्वीकारने पर ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी कैसे कह सकेंगे? सर्वशक्तिमान होते हुए भी ईश्वर इतने लम्बे काल से कार्यरत होते हुए भी अभी तक भी एक सृष्टि रचना का भी कार्य समाप्त नहीं कर सका है तो फिर सृष्टि के प्रलय की बारी तो कभी भी आयेगी ही नहीं। यदि सृष्टि रचना ही पूरी नहीं हुई है वही अपूर्ण है तो फिर प्रलय करेगा किस का? क्या रचना पूरी किये बिना ही प्रलय कर देगा? सृष्टि अपूर्ण और प्रलय पूरा यह कैसे स्वीकारें? जो नहीं बना है उसका प्रलय कैसे संभव है? जो पुत्र जन्मा ही नहीं वह मर गया यह परस्पर विरोधाभास खड़ा करेगा।

दूसरी तरफ ईश्वर के जिम्मे काम भी कई हैं। पहले सृष्टि निर्माण करना, फिर पालन करना, फिर जीवों को कर्मफल देना, फिर सृष्टि का प्रलय करना, इत्यादि। मान लो काम ज्यादा है। इसलिए ईश्वर के तीन रूप की व्यवस्था की है। एक सृष्टि कर्ता, दूसरा पालनहार और तीसरा प्रलयकर्ता संहारक! तो कर्मफल दाता के रूप में क्यों किसी की व्यवस्था नहीं है। फिर ईश्वर को एक रूप में ही मानें या अनेक रूप में मानें? चूंकि कार्य व्यवस्थानुसार तीन रूप स्वीकारे गये हैं, तो फिर सृष्टि में तो एक नहीं, अनेक कार्य हैं। पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, नदी, नद, वृक्ष, स्वर्ग-नरक, पाताल, पशु-पक्षी, कृमि कीट-पतंग आदि सैकड़ों, हजारों लाखों नहीं, अगणित कार्य हैं। तो ईश्वर क्या अपने अगणित रूप करता है? या अगणित ईश्वर मिलकर कार्य करते हैं? या एक ही ईश्वर क्रमशः एक के बाद एक कार्य करता है या किस तरह की व्यवस्था है? इस समस्या को हल करने के लिए यदि आप यह कहो कि ईश्वर क्रमशः एक के बाद एक कार्य करता है। तो पहले-पीछे की क्रम व्यवस्था किस तरह बैठाई है। पहले क्या बनाया? बाद में क्या बनाया? फिर उसके बाद क्या बनाया? इत्यादि। मनुस्मृति में बताये गये क्रम के अनुसार समझ लिया जाय कि इस क्रम से बनाया है तो क्या सभी कार्य समाप्त हो गये? यदि यह कहते हो तो अब सृष्टिकर्ता ईश्वर की निरुपयोगिता सिद्ध होगी। अब ईश्वर को निरर्थक निष्काम बैठा रहना पड़ेगा तो शायद ईश्वर के नित्यत्व के अस्तित्व पर भी वज्रपात होगा।

अच्छा क्रमशः उत्पत्ति स्वीकार करने में नाना ईश्वर की कल्पना सामने आयेगी। कितने ईश्वरों ने मिलकर सृष्टि का कार्य किया है? नाना ईश्वर मानने में एकेश्वरवाद का पक्ष चला जायेगा और नाना नहीं मानें तो अनन्त ब्रह्माण्ड, स्वर्ग-पाताल, नरक, मनुष्य, कृमि, कीट-पतंगादि किस क्रम से क्या और कैसे मानें? इसमें क्रमापत्ति आयेगी। आप ईश्वर को सर्वव्यापी, सर्वगत मान लेंगे तो भी एक ईश्वर और अगणित असंख्य कार्य कैसे होंगे? अच्छा सशरीरी मानकर तो सर्वव्यापी सर्वगत मानने में परस्पर विरोध आयेगा। और अशरीरी मानने में सर्वव्यापी, सर्वगत हो जायेगा तो सभी कार्य अशरीरी कैसे करेगा? आकाश भी अशरीरी सर्वव्यापी सर्वगत है तो फिर आकाश को ही ईश्वर मानने की आपत्ति खड़ी होगी। वह भी नित्य है। लेकिन आकाश निर्जीव, निष्क्रिय है। ईश्वर तो सक्रिय है।

अच्छा आप सारी सृष्टि सह-भू एक साथ ही उत्पन्न हुई है ऐसा मानोगे तो या तो ईश्वर को जादूगर मानना पड़ेगा जैसा कि कहते हैं कि हमारे ईश्वर ने एक जादू किया और सारा संसार बन गया। कोई कहता है कि कुन्द शब्द कहा और सृष्टि बन गई। तो इन्द्रादि भी इन्द्रजाल करते हैं। जादुगर भी अपने जादू

आदि से कई वस्तुएं बनाते हैं। तो क्या ईश्वर को जादुगर मानें ? या इन्द्रजाल का कर्ता इन्द्र मानें ? या क्या करें ? जादुगर की माया सही भी नही होती। वह भूत-पिशाच आदि की सहायता भी लेता है। तो क्या ईश्वर भी जादुगर के रूप में पिशाचादि की सहायता लेकर सृष्टि बनाता है ? अच्छा तो पिशाचादि क्या सृष्टि के अंग नहीं हैं ? क्या वे ईश्वर के अनुचर हैं या अंश हैं ?

यदि यह मानने जाएंगे तो ईश्वर की इच्छा के क्रम का क्या होगा ? क्या सृष्टि मात्र ईश्वर के संकल्प मात्र से निर्माण हो जाती है ? जैसा कि कहा गया है कि—"**एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय**" एक जो मैं हुं वह बहुरूपी हो जाऊँ और प्रजोत्पत्ति करूं। यह संकल्प है या इच्छा है ? इच्छा है तो इच्छा भी ईश्वर में नित्य रहने वाली है या अनित्य ? यदि नित्य है तो नित्य ही ईश्वर को यह इच्छा होती ही रहेगी। और नित्य ही सृष्टि चलती रहेगी। यदि अनित्य है तो सम्भव है कि सृष्टि कार्य की समाप्ति के पहले भी इच्छा नष्ट हो जाय ? तो फिर इच्छा के अभाव में ईश्वर आगे का कार्य कैसे करेंगे ? सृष्टि अधूरी रह जाएगी। फिर इच्छा के बिना तो ईश्वर सृष्टि निर्माण कर नहीं सकेंगे। एक सर्वशक्तिमान नित्य ईश्वर जो समर्थ है उसका सृष्टि निर्माण का एक कार्य अपूर्ण-अधूरा रहेगा यह दोष किस पर डालेंगे ? दूसरी तरफ अधूरी सृष्टि का प्रलय करना भी अनुचित गिना जाएगा।

यदि आप यह कहो कि ईश्वर लीला के हेतु से अवतार लेते हैं। वह सिर्फ लीला करने आते हैं। लीला करना भी उनका मुख्य उद्देश्य है। ठीक है, यह भी आप जो कहते हैं—लीला के उद्देश्य से अवतार लेते हैं। परन्तु लीला किस विषय में। सृष्टि निर्माणार्थ या प्रलय के लिए ? न्याय सिद्धान्त मुक्तावली ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में मंगलाचरण के श्लोक में लिखते हैं कि—

चूडामणि—कृत—विधुर्वलयीकृत वासूकिः।
भवो भवतु भव्याय लीला—ताण्डव—पण्डितः।
नूतन जलधररुचये गोप वधूटी दुकूल चौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसार महीरुहस्य बीजाय॥

उपरोक्त दो श्लोकों में एक में शंकर की स्तुति की है। भवो शब्द शंकर के लिए प्रयुक्त है। उनके विशेषण के लिए आगे का पद है—"**लीला ताण्डव पण्डितः**" अर्थात् जो ताण्डव लीला करने में कुशल है—पण्डित है। ताण्डव लीला अर्थात् संहार कार्य में, अर्थात् सृष्टि के प्रलय में जो पण्डित है—कुशल है—जानकार है। शंकर के जिम्मे सृष्टि के प्रलय की जिम्मेदारी है। वे अन्त में नटराज का रूप लेते हैं। उल्टे घड़े पर एक पैर पर खड़े रहकर हाथ में प्रलय का डमरू लेकर नाचने लगेंगे तब

सारी सृष्टि का संहार हो जाएगा। प्रलय बड़ा भयंकर विनाशकारी होगा समस्त सृष्टि का एक तिनका भी नहीं बचेगा। यह सोचते हुए कभी आश्चर्य लगता है कि क्या इसे लीला समझना ? ईश्वर की तो मानों लीला होती होगी लेकिन अनन्त जीवों की जीवन लीला ही समाप्त हो जाय उसका क्या ? अनन्त जीवों को मारने का पाप किसके सिर पर ? चलो आप तो कहते हैं ईश्वर को पाप कभी लगता ही नहीं भले वह करे तो भी वह लीला कहा जाएगा। दूसरे श्लोक में श्री कृष्ण को नमस्कार किया गया है वहां श्री कृष्ण के विशेषण के रूप में **गोप वधूटि दुकूल चौराय** यह विशेषण रखा है। अर्थात् स्नान करने के लिए गोपीयां जब सरोवर या नदी में उतरी वे निर्वस्त्र होकर स्नान करने में मस्त हो गई तब उनके बाहर रखे हुए कपड़े चुराने वाले श्री कृष्ण को मैं नमस्कार करता हूं। जिनको हम भगवान का दरजा देते हैं उन्हें क्या इन शब्दों से नमस्कार किया जाय ? हां यह तो भगवान की लीला थी। इस उत्तर से क्या समाधान होता है ? भगवान ये कार्य करे तो लीला है। और यदि भगवान का ही भक्त यदि भगवान का अनुकरण करके वैसा ही कार्य करे—उदाहरणार्थ आज यदि कोई व्यक्ति किसी स्नान करती हुई स्त्री के वस्त्र चुराता है तो वह लीला नहीं—चोरी है। लोग उसे चोर-चोर बदमाश कहीं का कह कर पीटने लग जाते हैं। अच्छा तो ऐसे समय में यदि वह चोर यह कह दे कि मैं तो लीला करने आया हूँ। जैसा भगवान ने किया था वैसा अनुकरण करने आया हूँ तो फिर क्या होगा। यदि इस कार्य को चोरी कही जाती हो तो ऐसा कार्य जो भी कोई करे वह चोर ही कहा जाना चाहिए। चाहे वह मनुष्य हो या भगवान हो। धर्म शास्त्र ऐसा पक्षपात क्यों करता है ? एक कार्य को एक ने किया तो लीला और वही कार्य कोई सामान्य मानवी करे तो चोरी। वस्त्र चोर, मक्खन चोर के विशेषण लगाकर हम किसी को भगवान कह सकते हैं परन्तु मनुष्य यदि उस कार्य को करे तो वह भगवान नहीं बन सकता वह चोर कहलाएगा। ऐसा अन्याय क्यों ? भगवान का आदर्श हमारे लिए कितना ऊंचा होना चाहिए ? बेदाग सर्वथा दाग रहित, आदर्श निष्पाप-निष्कलंक जीवन होना चाहिए तो ही वह भक्त के लिए अनुकरणीय अनुसरणीय बनेगा। अन्यथा बाप अण्डे खाए और बेटे को ना कहे यह कैसे चरितार्थ होगा ? क्या भगवान का ऐसा स्वरूप करके हमने भगवान के स्वरूप को विकृत नहीं बनाया है ? कितनी विकृति लाई है।

इतना ही नहीं जिस भगवान को सृष्टि का कर्ता कहा उसे ही सृष्टि का सहारक, विनाशक भी माना, और वह भी ईश्वर। लोक व्यवहार के संसार में देखें कि क्या एक माता अपने संतान को जन्म देकर वही संतान को खाने लग जाएगी ? या क्या वही मां बालक का गला घोंट कर मार देगी ? यदि मार दे तो क्या वह मां मां कहलाएगी या नरपिशाची राक्षसी चुड़ैल कहलाएगी ?

जिस मां के खून से जो बालक बना है, और बड़े भारी कष्ट सहन करते हुए जिस मां ने सन्तान को अपने गर्भ में साडे नौ महिने धारण करके रखा है, जिस बालक के वात्सल्य से, स्नेह से माता के स्तन में दूध बना है। आज दिन तक जब तक संतान नहीं थी माता नहीं बनी थी तब तक जो दूध निर्माण ही नहीं हुआ था वह दूध आज संतानोत्पत्ति एवं वात्सल्य स्नेह के कारण बना है वह दूध अपने सीने से बालक को पिलाने वाली मां क्या बालक को मार डालने का विचार भी करेगी ? क्या बालक का गला घोंटने का वह स्वप्न में भी सोचेगी ? सोचे तो मां का मातृत्व कहां गया ? अजी मां की बात तो छोडीए–पशु-पक्षी में भी यह स्नेह प्रकट देखा जाता है। गाय-भैंस-घोड़ा-गधा भी अपने संतान को जीभ से चाट कर स्नेह व्यक्त करते हैं। वे पशु होते हुए भी संतान को मार नहीं डालते। तो फिर जो ईश्वर है वह अपने द्वारा उत्पन्न की हुई इस सृष्टि का संहार कर दे यह कैसे संभव है। जबकि ईश्वर को ही जगत् का पिता कहा जाय, त्वमेव माता-पिता त्वमेव कहा जाय वह ईश्वर पुत्रवत् अपनी सृष्टि का संहार करे यह कैसे संभव है ? अच्छा मान भी लें कि पशु-पक्षी या माता नरपिशाची, राक्षसी, चुडैल, स्वसंतान भक्षक बन भी जाय लेकिन जो दयालु है, करुणालु है, दया का सागर है, करुणा का भण्डार है ऐसा ईश्वर स्व निर्मित, अपने द्वारा उत्पन्न की हुई इस सृष्टि जिसमें अनन्त जीव हैं उन सबको मारने का संहारकारी–प्रलयकारी कार्य क्यों करे ? ऐसे कार्य के कारण के रूप में जब कोई हेतु नहीं मिला तो एक मात्र लीला शब्द का प्रयोग कर दिया। लेकिन सिर्फ लीला शब्द मनः समाधान कारक नहीं है। जबकि सृष्टि निर्माण करने के कार्य के लिए इच्छा एवं दयालु और करुणालु हेतु दिए थे तब उचित लगते भी थे, लेकिन संहार-प्रलय कार्य के लिए सिर्फ लीला शब्द देना पर्याप्त नहीं है ? दूसरी तरफ जैसे सूर्य के रहते अन्धेरे का रहना सम्भव नहीं है चूंकि दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व है। ठीक उसी तरह दयालुता और करुणालुता रहने पर संहार प्रलय सम्भव नहीं है। जिस दृष्टि से मां को देखा जाता है उसी दृष्टि से पत्नी-बहन और बेटी को कैसे देखा जाय ? यह कैसे सम्भव है ? उसी तरह जिस दयालुता आदि से ईश्वर सृष्टि निर्माण करता है वही ईश्वर उस दया करुणा आदि के रहते संहार प्रलय कैसे कर सकता है ? या यों कहीए कि ईश्वर में से दया-करुणा के गुण चले जाते हैं और क्रूरता, निर्दयता आदि दुर्गुण आ जाते हैं। अरे-रे ! ईश्वर का स्वरूप विकृत करने की भी कोई सीमा होती है ? छ्याश ! जिसे मानना है पूजना है, अहर्निश जिसका नामस्मरण करना है उसका इतना विकृत स्वरूप ? आश्चर्य....। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है !

अरे भाई ! मैं तो यह कहता हूँ कि जब आगे चलकर सृष्टि का प्रलय करना ही था तो फिर पहले से सृष्टि निर्माण ही क्यों की ? निर्माण ही नहीं करते तो फिर प्रलय-संहार करने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता ? यह तो समुद्र से पानी नदी में

उलेचने के समान निरर्थक कार्य हुआ ? क्या फायदा ? इधर से समुद्र से पानी भर-भर कर नदी में डालना जो नदी बहती हुई आकर समुद्र में ही मिलती है। तो फिर ऐसा प्रयत्न क्या बुद्धिमान आदमी का कार्य हो सकता है ? उसी तरह सृष्टि की रचना करो और फिर उसका संहार करो। फिर दूसरे युग में पुनः सृष्टि की रचना करो फिर प्रलय करो ? फिर तीसरे युग में पुनः सृष्टि निर्माण करो……फिर संहार करके समाप्त करो !……अरे…भगवान ! ईश्वर को कैसे कार्य में जोड़ दिया है ? कुम्हार घड़ा बनाता जाय फिर उसे तोड़कर मिट्टी बनाए, फिर उस मिट्टी से घड़ा बनाता जाय, फिर तोड़कर उसे मिट्टी बनाए, फिर घड़े बनाता जाय, फिर मिट्टी…… फिर घड़ा……क्या ऐसा कोई कुम्हार कभी करता है ? संभव भी नहीं। यदि कुम्हार जो नासमझ है वह नहीं करता है सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर क्या ऐसा कार्य करे यह संभव भी है ? इस तरह वह बार-बार सृष्टि बनाता रहे और बार-बार संहार से समाप्त करता रहे…… पुनः बनाना पुनः प्रलय ………यंत्रवत् ईश्वर को उसी कार्य में जोड़ दिया ? यह ईश्वर की कैसी विडंबना की है ? अरे … … रे ……! इसके बजाय यदि सृष्टि बनानी भी है तो एक बार बना के कार्य समाप्ति के बाद ईश्वर निवृत्त हो जाय। बस फिर बनाने, नाश करने आदि की समस्या ही नहीं रहेगी ? लेकिन क्या करें ? ईश्वर को नित्य भी कह दिया, उसे ही एक कहा है। वह एक ही नित्य है। उसकी इच्छा भी नित्य है। वह सदा बनाता ही रहे। उसी का सदा ही संहार प्रलय भी करता ही रहे। ऐसा ईश्वर का स्वरूप नियत कर दिया है ? न मालुम ईश्वर का ऐसा स्वरूप किसने खड़ा किया है ? क्या ईश्वर ने ही अपना जैसा स्वरूप है वैसा बताया है कि फिर ईश्वर ऐसा है यह किसी और ने बताया है ?

ईश्वर ने खुद ने तो अपना ऐसा स्वरूप है यह बताया ही नहीं है। चूंकि ईश्वर के ऊपर भी वेद की सत्ता मानी है। ईश्वर तो उत्पन्न तत्त्व है। परन्तु वेद तो अपौरुषेय अनुत्पन्न तत्त्व है। वेद ईश्वर के पहले भी विद्यमान थे। तभी तो ईश्वर ने वेद में देखकर सृष्टि की रचना की है। वेद नहीं होते तो ईश्वर सृष्टि की रचना ही कैसे करते ? किंकर्तव्यमूढ़ बनकर बैठे रहते, क्योंकि पूर्व के कल्प में सृष्टि कैसी रची थी यह कैसे पता चलता ? इसलिए सृष्टि निर्माण करने के लिए ईश्वर को वेद में देखना अनिवार्य है। वेद में लिखे अनुसार ही ईश्वर सृष्टि की रचना कर सकता है। यहाँ ईश्वर को भी वेद के आधीन कर दिया। ईश्वर की स्वतंत्रता छीन ली और परवश, परतन्त्र बना दिया। तो फिर ईश्वर की स्वतन्त्रता कहाँ रही ? ईश्वर सर्वोपरि सर्वोच्च कहाँ रहा ? और दूसरी तरफ आश्चर्य देखिए कि ईश्वर को सर्वज्ञ-सर्वविद्, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान कहा। तो यह गलत सिद्ध होगा। वेद को ही सर्वज्ञ-सर्वविद् कहते तो ही ठीक रहता। परन्तु वेद चेतन-सक्रिय तत्त्व कहां

है ? फिर तो वेद सृष्टि की रचना करता ऐसा होता। लेकिन ऐसा न करके भी ईश्वर को वेद का दास अनुचर बना दिया। अरेरे ·····! सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ कह कर भी ईश्वर की लगाम वेद के हाथ में देकर ईश्वर को अश्व का रूप दे दिया। यह क्या ईश्वर की कम विडंबना है ? एक तरफ वेद को भी नित्य मानते हैं तथा दूसरी तरफ ईश्वर को भी नित्य मानते हैं। जब दोनों नित्य हैं तो फिर ईश्वर को वेद में देखकर सृष्टि बनाने का प्रश्न ही कहां खड़ा होता है ? तो फिर किसी नित्यता में दोषापत्ति आएगी। जिसको आपने सर्वज्ञ-सर्वविद् कहा उसे भी आपने वेदाधीन कर दिया—तो फिर ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहा यह सिद्ध हुआ। और सर्वज्ञता ईश्वर में ही है यह पक्ष भी पकड़कर रखना चाहते हो तो फिर वेदपारतन्त्र्य से ईश्वर को मुक्त करो। हाश ! भगवान की भक्तों के हाथ में कैसी गति हो रही है ? ईश्वर की इतनी विकृत विडंबना और किसी अन्य ने नहीं परन्तु उसी के द्वारा उत्पन्न की सृष्टि के मानवी ने कर दी। तो यह भी तो सर्वज्ञ ईश्वर जानते ही होंगे तो फिर उनको ईश्वर ने उत्पन्न ही क्यों किया ? ईश्वर के द्वेषी भी इस संसार में कई हैं। जो ईश्वर को ही गालियां देते है। ईश्वर का अस्तित्व ही न मानने वाले नास्तिक है उनको ईश्वर ने क्यों बनाया ? क्या मैं जिसको बनाऊँ वही मुझे न माने ? मेरे से ही पैदा हुआ मेरा ही बेटा मुझे न माने ? और क्या ईश्वर यह जानते हुए भी अनिष्ट सृष्टि को निर्माण करे जो ईश्वर का ही स्वरूप विकृत करे। ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर का सारा स्वरूप अनीश्वरवादियों ने ही निर्माण किया है। नहीं। अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादियों ने तो बड़ा उपकार किया है। उन्होंने तो ईश्वर के विकृत स्वरूप को ठीक किया है, सुधारा है। परस्पर विरोधी बातों को हटाकर ईश्वर स्वरूप की विकृतियां हटाकर स्वरूप शुद्ध बनाया है। इसीलिए निरीश्वरवादी जैन आदि ने ईश्वर को सृष्टि कर्ता-संहर्ता के रूप में नहीं अपितु परम शुद्ध पूर्ण परमात्म स्वरूप में माना है। तो ईश्वरकर्तृत्ववादियों ने इन निरीश्वरवादियों को नास्तिक कह दिया। अरे भाई ! नास्तिक तो किसे कहते हैं ? जो आत्मा-परमात्मा-मोक्षादि तत्त्वों को न मानें उन्हें सही अर्थ में चार्वाक एक ही सबसे बड़ा सही अर्थ में नास्तिक है। जैनादि तो परम आस्तिक हैं। चूंकि ये आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, मोक्षादि सभी तत्त्वों को मानते हैं फिर नास्तिक कहना भी कहने वाले की अल्पज्ञता को सिद्ध करता है।

दूसरी तरफ देखें तो चार्वाक नास्तिक को भी ईश्वर ने ही निर्माण किया है। तो क्यों निर्माण किया ? क्या त्रिकालविद् सर्वज्ञ होते हुए भी ईश्वर यह नहीं जानते थे कि भविष्य में ये क्या करेंगे ? मेरा स्वरूप ही नहीं मानेंगे। यह समझकर ईश्वर ने निर्माण ही नहीं किये होते तो कितना अच्छा होता ? परन्तु यही

सिद्ध करता है कि ईश्वर ने सृष्टि निर्माण की है ऐसा लगता नहीं है। क्योंकि ईश्वर के विपरीत भी सृष्टि निर्माण हो गई है।

यहां क्या समझा जाय ? ईश्वर अपनी स्व इच्छा से सृष्टि निर्माण करने वाला और वही क्या अनिष्ट सृष्टि निर्माण करेगा ? नहीं। लेकिन अनिष्ट सृष्टि है तो सही। फिर यह भूल कैसे हो गई ? अरेरे···· ! भगवान में भूल दिखाना अर्थात् सूर्य में अंधेरा दिखाने जैसी मूर्खता है। जो भगवान होते हैं वे भूल नहीं करते और जो भूल करते हैं वे भगवान नहीं कहलाते। भगवान और भूल दोनों ही परस्पर विरोधी पदार्थ हैं। जैसे पूर्व-पश्चिम दोनों विरोधी दिशाएं, एक तरफ एक साथ नहीं रह सकती वैसे ही भगवान और भूल दोनों तत्त्व एक साथ नहीं हो सकते। इसीलिए भगवान भूल से ऊपर उठे हुए रहते हैं। अभी-अभी संसार में आप देख रहे हैं जो भगवान बन कर भारत से भाग गया था और भारत वापिस आया है चूंकि बेचारे को दुनिया में किसी ने पैर रखने भी नहीं दिया। क्यों नहीं पैर रखने दिया ? क्योंकि तथाकथित बेचारा विवादास्पद भगवान बन बैठा है अतः उसकी भोग लीला सभी जानते हैं। भोग लीला भी पाप लीला बन चुकी है। अच्छा हुआ कि बेचारे को सद्बुद्धि सूझी कि कहा अब मुझे कोई भगवान मत कहना। अब उसे भगवान कहनेवाले को ही वह खुद बेवकूफ कहता है। भूल करता हुआ भगवान बन नहीं सकता यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुग्रह-निग्रह समर्थ ईश्वर

"अनुग्रह-निग्रह समर्थो ईश्वरः" ऐसा ईश्वर के विषय में वेद में कहा गया है। यदि ईश्वर चाहे तो किसी पर कृपा करे और यदि न चाहे तो ईश्वर किसी का नाश भी कर दे। यह दोनों सामर्थ्य ईश्वर में है ऐसा वेद कहता है। जगत्कर्तृत्ववादी ईश्वर विषयक धर्मशास्त्र कहते हैं। चूंकि इच्छा तत्व के पराधीन ईश्वर है इसलिए ईश्वर चाहे वैसा कर सकता है। यह सब चाहना-इच्छा के ऊपर निर्भर है। अतः अनुग्रहात्मक और निग्रहात्मक दोनों प्रकार की इच्छा ईश्वर में सन्निहित है। परन्तु यह पता नहीं कि कब कौनसी इच्छा काम करेगी ? जीवन भर पापाचार में लिप्त रहने वाला अजामिल भी ईश्वर की कृपा से अन्ततः मोक्ष में चला जाता है। यदि ईश्वर ऐसों पर कृपा करता है निष्पाप दीन बेचारे कई संसार में पडे हैं उन पर क्यों कृपा नहीं कर देता ? चूंकि ईश्वर दयालु और करुणालु है तो ईश्वर में अनुग्रह की ही बहुलता रहनी चाहिए। दयालु कृपालु-करुणालु बनकर भी ईश्वर निग्रहकर्ता कैसे बन सकता है ? यह तो कितना बडा आश्चर्य है। शीतल चन्द्र सूर्य से भी तेज आग का गोला बन गया। यह ईश्वर की ऐसी विडंबना क्यों की गई है। दयालु

कहकर भी निग्रहता सिद्ध करनी कैसे संभव है ? क्या यह ईश्वर का उपहास नहीं है ? करुणा सागर दयालु ईश्वर को संसारस्थ जीवों को देखकर दिल में करुणा उभर आनी चाहिए। क्यों नहीं ईश्वर संसारस्थ बेचारे त्रस्त दुःखी जीवों को मोक्ष में नहीं भेज देता ? सदा के लिए दुःख से छुटकारा तो पा जाय। इसी में ईश्वर की परम करुणा का परिचय है। यदि वह परम कारुणिक है तो उसे ऐसा करना चाहिए। चूंकि ईश्वर में वह शक्ति है किसी को स्वर्ग में भेजता है, किसी को नरक में.....इत्यादि कहते हुए कहा है कि—

ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः॥

ईश्वर के द्वारा ही भेजा हुआ जीव स्वर्ग में या नरक में जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव अपने सुख-दुःख को पाने में, उत्पन्न करने में स्वतन्त्र भी नहीं है एवं समर्थ भी नहीं है। संसारस्थ सभी जीवों के सुख-दुःख की लगाम भी ईश्वर के आधीन रखी है। ईश्वर ही जिसको जैसा रखे उसको वैसा रहना होगा। ईश्वर की इच्छा पर ही सब कुछ निर्भर है। यहां तक कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। ईश्वर ही किसी को जिन्दा रखता है ईश्वर ही किसी को मारता है। तो फिर संसार में सभी ऐसा ही कहेंगे–एक खून करने वाला भी कहेगा मैं थोड़े ही मारता हूँ–ईश्वर मेरे द्वारा तुम्हें मरवाता है। चोर चोरी करके यह कहेगा कि मैं थोड़ी चोरी कर रहा हूँ ? मेरे द्वारा तुम्हारा धन चुराकर ईश्वर ही तुम्हें दुःखी कर रहा है। जो कुछ करता है वह सब ईश्वर ही करता है। मनुष्य तो ईश्वर के इशारे पर नाचने वाली कटपुतली मात्र है।

अच्छा उपरोक्त स्वीकारें लेकिन खून-हिंसा-चोरी का पाप भी ईश्वर को ही लगना चाहिए। चूंकि जब ईश्वर ही किसी के जरिये करवाता है। परन्तु यह तो स्वीकार नहीं है। ईश्वर भले ही करवाये परन्तु पाप तो मनुष्य को करने वाले को ही लगेगा। अरेरे! ईश्वर ने मनुष्य के पास करवाया और फिर भी ईश्वर को पाप नहीं लगता। क्यों नहीं लगता ! बस। इसका उत्तर इतना ही है कि वह ईश्वर है। जंगल में लूटेरा डाकू भी लूटते समय शेठ को कहेगा शेठ तुम्हारे को लूटकर धन लेकर दुःखी करने की आज्ञा मुझे ईश्वर ने दी है इसलिए मैं आया हूँ। मैं मेरी इच्छा से नहीं लूट रहा हूँ। सब कुछ ईश्वरेच्छा कर रही है। मैं जिम्मेदार नहीं हूँ ईश्वर जिम्मेदार है। इस तरह संसार में आतंक का साम्राज्य फैल जाएगा। फिर तो धर्म की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। तो फिर इतने धर्मग्रन्थ और धर्म गुरु रोज इतना उपदेश क्यों देते हैं। सब निरर्थक है। निष्फल है। हमारे द्वारा कल ईश्वर क्या करवायेगा ? या हमें ही कल ईश्वर क्या करेगा। क्या बनायेगा यही

निश्चित नहीं है तो फिर हम धर्मादि भी करके क्या करें। नहीं-नहीं हम करने वाले भी कौन होते हैं? धर्म भी करवाना होगा तब ईश्वर करा देगा। इस तरह तो सभी अनन्त जीव निष्क्रिय हो जाएंगे। और तो ईश्वर कर्तृत्ववादी कहते ही हैं कि संसार निष्क्रिय है ईश्वर की इच्छा के आधीन ईश्वर की आंख के इशारे पर नाचने वाली कटपुतली मात्र है। शेर-सिंह-चीत्ता बाघ भी मनुष्य को फाड़कर खाएंगे और यही कहेंगे कि हम क्या करें? ईश्वर की इच्छा ही ऐसी थी। फिर मनुष्य को भी ईश्वरेच्छा को मान देना चाहिए। अर्थात् मौत के मुंह में जाने के लिए डरना नहीं चाहिए। लेकिन प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि मृत्यु से सभी डरते हैं। कोई भी मरने के लिए तैयार नहीं है। संसार की हालत बडी विचित्र बन जाएगी। एक ही ईश्वर और अनन्त जीवों की व्यवस्था कैसे कर पाएगा। आप कहेंगे हजार हाथ है ईश्वर के वह सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी मानोगे तो अशरीरी मानना पडेगा। शरीरधारी तो सर्वव्यापी हो नहीं सकता। और अशरीरी मानोगे तो सृष्टि की रचना कैसे करेगा। और यदि अशरीरी भी सृष्टि रचना कर सकता है ऐसा कहोगे तो सभी अशरीरी मुक्तात्मा भी सृष्टि करने लग जाएंगे। तो एक सृष्टि कर्ता ही नहीं अनेक सृष्टि कर्ता मानने की आपत्ति आएगी।

दूसरी तरफ जो राग-द्वेष ग्रस्त मनुष्य है उसमें इच्छा नहीं रहनी चाहिए। और इच्छा रहती भी है तो अपनी खुद की इच्छा तो मनुष्य के लिए कोई काम नहीं आएगी। क्योंकि मनुष्य की इच्छा तो चलती ही नहीं है जो कुछ चलती है वह सिर्फ ईश्वर की ही एकमात्र इच्छा चलती है दूसरी तरफ इच्छा रागस्वरूप है रागादि भाव कर्म जन्य है। मनुष्य कर्म युक्त है। वह कर्म युक्त संसार में कर्मोपार्जित इच्छा आदि से त्रस्त है। अनेक इच्छाओं से ऊब गया है। जबकि कर्म रहित है। कर्म नहीं तो राग-द्वेषादि नहीं और राग-द्वेषादि नहीं तो इच्छा भी नहीं ठहर सकती। इच्छा नहीं तो सृष्टि नहीं। यह मानना पडेगा। अन्यथा ईश्वर में इच्छा मानों और रागादि कर्म को न मानों यह घर का न्याय कहां से चलेगा। तो फिर ईश्वर को भी इच्छा के कारण रागादि युक्त, कर्म संयुक्त मानना पडेगा। और ऐसा मानने पर ईश्वरत्व ही चला जाएगा। वह हमारे जैसा सामान्य मनुष्य सिद्ध हो जाएगा। अरेरे! छोटे बच्चे पर हजार मन वजन उठाने की तरह हिमालय जितनी कितनी आपत्तियां आएंगी। पार ही नहीं है।

कर्मफल दाता ईश्वर क्यों?

पहले तो ईश्वर सृष्टि की रचना करे। फिर जीवों को स्व-इच्छानुसार प्रवृत्ति कराये। अच्छी-बुरी सभी प्रवृत्ति ईश्वर करावे। उसमें बेचारे जिस जीव ने खराब प्रवृत्ति की उसे पाप लगा। उस पाप कर्म का भागीदार कराने वाला ईश्वर भी नहीं

बनता, सिर्फ जीव अकेला ही रहता है। अब उस जीव को ईश्वर पाप कर्म के फल के रूप में सजा देता है। उसे सजा देने के लिए नरक में भेजता है और वह नरक भी ईश्वर ने ही बनाई है। वहां नरक में उस को खूब मारता है, खूब दुःखी करता है। बेचारे जीव को मार-मार कर चटणी बना देता है। काट-काट कर टुकड़े कर देता है। पकोड़ी की तरह ऊबलते तेल की कढ़ाई में तलता है। इतना जब ईश्वर करता है तब ईश्वर की दया-करुणा कहां गयी ? तो क्या ईश्वर में से दया-करुणा चली भी जाती है क्या ? क्रूरता और निर्दयता आती भी है क्या ? चूंकि अनुग्रह-निग्रह दोनों ही कार्य ईश्वर करता है अतः दया-करुणा और क्रूरता-निर्दयता दोनों ही ईश्वर में मानने पड़ेंगे। और दोनों अवस्था के आधीन जब ईश्वर एक को स्वर्गीय सुख देने का और दूसरे को रौरव नरक में दुःख देने का काम करेगा, तब क्या ईश्वर को कोई पुण्य-पाप नहीं लगेगा ? वाह भाई वाह ! पुण्य-पाप जीव को लगता है और कराता है सब कुछ ईश्वर ! फिर फल देने की सत्ता भी ईश्वर के हाथों में ! फल देने का काम भी ईश्वर ही करता है ? अरेरे....! इसकी अपेक्षा ईश्वर जीवों को कुछ भी कराए ही नहीं तो फिर अच्छे-बूरे का प्रश्न ही खड़ा नही होगा। तो फिर फल देने की नौबत ही नही आयेगी। अच्छा यही है कि हम यही पक्ष मानें। क्यों दयालु-करुणालु ईश्वर के हाथ निर्दयता और क्रूरता के रंग में खराब करते हो ? क्यों ईश्वर के हाथ नरक में जीव को कटवाकर खून से लथपथ करते हो ? अरे भाई ! ईश्वर को इतनी निम्न श्रेणी तक तो मत ले जाओ। ईश्वर को क्रूर नरकसंत्री, परमाधामी की तरह मत बना दो। बचाओ.....बचाओ..... ! ईश्वर का स्वरूप बचाओ। बचाओ.....बचाओ... ..! ईश्वर का स्वरूप विकृत होने से बचाओ। ईश्वर का स्वरूप गिरने से बचाओ। शायद हमें ऐसा ईश्वर बचाओ का आन्दोलन करना पड़ेगा। ईश्वर को जेलर बनने से रोको। ईश्वर को कोड़े मारने वाला बनने से रोको। यदि फल देने का कार्य ईश्वर अपने हाथ में ले लेगा तो ईश्वर का एक स्वरूप या एकसा शुद्ध स्वरूप टिक ही नहीं पायेगा। फिर तो जज, न्यायाधीश, पोलीस, हंटर-कोड़े मारने वालों को भी ईश्वर या ईश्वरावतार या ईश्वर स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अरेरे ! ईश्वर को इतना निम्न स्तर पर ले जाने का पाप किस के सिर पर रहेगा ?

ईश्वर में सर्वगतत्वादि भी सिद्ध नहीं होगा।

सृष्टिकर्ता ईश्वर को सृष्टि निर्माणार्थ यदि सूक्ष्म शरीरी, या अशरीरी भी मानेंगे तो वह भी उपयुक्त नहीं होगा। या अदृश्य शरीरी भी मानेंगे तो भी उपयुक्त नहीं होगा। चूंकि अनन्त कार्य निर्माणार्थ अनन्त शरीर बनाये तो स्वशरीर बनाना ही सृष्टि हो जाएगी। फिर ईश्वर स्वशरीर बनायेगा कि अन्य सृष्टि बनायेगा ?

दूसरी तरफ यदि आप ईश्वर को सर्वगत-सर्वव्यापी मानते हैं तो किस तरह मानते हैं? शरीर से या ज्ञान से ? एक शरीर से तो कोई भी शरीरधारी सर्वव्यापी हो नहीं सकता और होगा तो मनुष्यादि भी हो जायेंगे। चूंकि ये भी शरीरधारी हैं। अच्छा तो शरीर से ही ईश्वर सर्व लोक व्यापी—तीनों लोक व्यापी हो जायेगा। तो फिर दूसरे बनाने योग्य निर्मेय पदार्थों के लिए स्थान ही नहीं रहेगा तो बनायेगा कहां ? यदि ईश्वर एक स्थान पर रहकर ज्ञान योग से सर्वव्यापी है ऐसा कहें तो हमारा सर्वज्ञ पक्ष सिद्ध होता है। परन्तु सर्वज्ञ वह है जो स्थित पदार्थों को मात्र जानता है। सर्वदर्शी समस्त ब्रह्माण्ड के स्थित पदार्थों को देखता मात्र है परन्तु बनाता नहीं है। आप ज्ञान योग से सर्वज्ञ मानते जाओगे तो फिर ईश्वर सृष्टि बना नहीं सकेगा! क्योंकि पहले सृष्टि बनाई कि पहले देखी या जानी ? यदि पहले से ही ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वव्यापी, सर्वगत मानते हो तो फिर ईश्वर ने देखा ही क्या ? जबकि बनाया कुछ भी नहीं है तो देखेगा कैसे ? और यदि बनाकर बाद में देखने की बात आप स्वीकारते हैं तो ईश्वर में सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शीत्व–सर्वव्यापित्व स्वीकारना व्यर्थ है। दूसरी तरफ स्वीकारने पर वेद विरोध आएगा। वेद में ईश्वर को शरीर की अपेक्षा से सर्वव्यापी कहा है। श्रुति भी ऐसा कहती है कि ईश्वर सर्वत्र नेत्रों का, मुख का, हाथों का और पैरों का धारक है। इस तरह इधर बाघ और उधर नदी जैसे स्थिति खड़ी होती है।

सर्वगतत्व पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता

दूसरी तरफ सशरीरी ईश्वर को सर्वगत-सर्वव्यापी मानें तो फिर कूड़े-करकट मल-मूत्र वाले स्थानों में तथा अशुचिपूर्ण-हाड़-मांस-रक्त रुधिर की नदियां जहां बहती हैं ऐसी नरक पृथ्वीयों में भी ईश्वर को मानना पड़ेगा जो कि ईश्वरवादी को भी इष्ट नहीं होगा।

अच्छा यदि आप ईश्वर को ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत-सर्वव्यापी मानते हैं तो जैनों का अभिष्ट पक्ष आप स्वीकारते हैं। जैन भी १३वें सयोगी केवली गुणस्थान पर आए हुए सर्वज्ञ केवलज्ञानी को एक स्थान पर विराजमान रहते हुए भी और देह-धारी होते हुए भी सर्वज्ञानी-सर्वदर्शी मानते हैं। एक स्थान पर स्थित होकर भी समस्त-लोक-अलोक को अपने ज्ञान का विषय बना लेते हैं। अच्छा है आप भी हमारी तरह ही ईश्वर को ज्ञान से सर्वज्ञ-सर्वव्यापी-सर्वगत स्वीकार कर लीजिए। हमें आपत्ति नहीं है परन्तु आपको आपत्ति यह आएगी कि सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि योगी, साधक, तपस्वी भी ज्ञानी होते है, ज्ञान प्राप्त

करते हैं। परन्तु उन्हें अपने ज्ञान के आधार पर सृष्टि कर्ता नहीं माने जाते। जरूरी नहीं है कि जो ज्ञानी हो वह सृष्टिकर्ता या कर्तृशक्ति सम्पन्न हो ही यह संभव नहीं है। उसी तरह सर्वज्ञ और सृष्टिकर्तृत्व की व्याप्ति भी नहीं बैठेगी। जो जो सर्वज्ञ हों वह वह सृष्टिकर्ता हों ही ऐसा भी नहीं है। चूंकि जैनादि अभिष्ट सर्वज्ञ केवलज्ञानी वीतराग दशा को प्राप्त हो चुके हैं। कृतकृत्य हो चुके हैं वे सृष्टि सर्जन का कार्य नहीं करते। उसी तरह जो जो सृष्टिकर्त्ता सर्जनहार हों वह सर्वज्ञ होना ही चाहिए यह भी नियम नहीं बन सकता। चूंकि इन्द्रादि स्वर्गीय देवता भी संकल्प बल या इच्छा मात्र से इन्द्रजाल की रचना में बहुत कुछ रचना कर सकते हैं। नगर के नगर, जो देवताओं के द्वारा निर्माण किये जाते है। समवसरण आदि जो देवताओं के द्वारा निर्माण किये जाते हैं। शून्य स्थान में भी क्षण मात्र में संकल्प बल से सारी नगर रचना करने वाले इन्द्रादि देवता सर्वज्ञ नहीं है। यदि आप ईश्वर को भी संकल्प बल से इच्छानुसार सृष्टि रचना करने में इन्द्रादि सदृश स्वीकार करोगे तो ईश्वर भी इन्द्र रूप में सिद्ध हो जाएगा। जबकि इन्द्र तो सिर्फ स्वर्ग का स्वामी है। और आप ईश्वर को त्रिभुवन का स्वामी मानना चाहते हैं। अतः सर्वज्ञ सृष्टि की रचना कर नहीं सकता। ज्ञान के साथ कर्तृत्व की व्याप्ति नहीं बैठती। हमारे में घट-पटादि पदार्थों का ज्ञान है परन्तु घट-पटादि पदार्थों का कृतिमत्व हमारे में नहीं है। अतः ज्ञान के साथ कृतिमत्व का रहना अनिवार्य नहीं है। अतः बलात् भी ईश्वर में ये दोनों साथ नहीं रह सकते।

यदि आप ऐसा मानते हो कि ईश्वर के सर्वज्ञत्व के बिना संसार की विचित्रता असंभव लगती है तो यह भी ठीक नहीं है। आपने माना है कि विचित्रता विविध प्रकार की है, और ईश्वर को यदि वैसा वैविध्य अपनी सृष्टि में लाना है तो ईश्वर में ज्ञान का वैविध्य होना अनिवार्य है। जैसे एक कुशल रसोइया विविध प्रकार के व्यंजन, रसवती पदार्थों की जानकारी (ज्ञान) रखता है तो ही विविध प्रकार की मिठाई, व्यंजन, आदि रसोई बना सकता है अन्यथा संभव नहीं है। ठीक वैसे ही ईश्वर भी सृष्टि में खूब वैविध्य और वैचित्र्य रखता है। विसदृशता खूब ज्यादा है तो ईश्वर में उन सबका ज्ञान होना आवश्यक है। अतः आप किसी भी तरह तोड़ मरोड़ कर भी सृष्टि कर्तृत्व को सिद्ध करने के हेतु से ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध करने जाते हैं। यह भी उचित नहीं है। संसार की विचित्रता-विविधता-विषमता का कारण जीवों के अपने कृत कर्म ही स्वीकार कर लो तो फिर प्रश्न ही कहां रहा ? उसी तरह संसारस्थ जड़ पदार्थों में भी मिश्रण-संमिश्रण, विघटन से वैविध्य है यह स्वभाव जन्य ही मान लो तो ईश्वर का स्वरूप तो विकृत होने से बच जाएगा।

क्यों आप द्रविड प्राणायाम करते हैं ? संसार में त्रस-स्थावर विकलेन्द्रिय-सकलेन्द्रिय देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्यादि विचित्रता तथा सुख-दुःखादि की विषमता स्वयं जीवों के द्वारा उपार्जित कर्मानुसार है यह स्वीकारने में बहुत ज्यादा सरलता है। अतः आप सर्वज्ञता से सृष्टिकर्तृत्व या सृष्टि कर्तृत्व से सर्वज्ञता सिद्ध करने का बालिश प्रयत्न न करें। चूंकि कोई एक दूसरे का अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती शरण नहीं है। न ही ये जन्य जनक है। अन्यथा बुद्ध-महावीरादि कई सर्वज्ञों को सृष्टिकर्ता स्वीकारना पड़ेगा, तो फिर ऐसे सर्वज्ञ कितने हुए हैं ?—उत्तर में संख्या अनन्त की है। तो क्या आप अनन्त सर्वज्ञों को सृष्टिकर्त्ता मानेंगे ? तो फिर आपका एकत्व पक्ष चला जाएगा। अच्छा यदि हमारी तरह संसार को अनादि-अनन्त और जड़-चेतन, संयोग-वियोगात्मक या जीव-कर्म संयोग-विरोगजन्य मान लो तो क्या तकलीफ है ? चूंकि अनादि संसार में जड़ और चेतन ये दो ही मूलभूत द्रव्य हैं। इन्हीं की सत्ता है। इन्हीं का अस्तित्व है। चेतन को ही जीव कहते हैं। और जड़ का एक अंश कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु है। उन पुद्गल परमाणुओं वाली कार्मण वर्गणा को जीव राग-द्वेषादि कारण से अपने में खींचता है। उसे कर्म रूप में परिणत करता है। जैसे चुम्बक में चुम्बकीय शक्ति है। मूलभूत पड़ी ही है। चूंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसी तरह चेतन आत्मा में भी रागादि भाव पदार्थ निमित्तक है। अतः वह आकर्षित करता है। उससे कार्मण वर्गणा आत्म संयोगी बनकर कर्म बनती है। जीव के साथ कर्म का संयोग-वियोग ही सृष्टि की वैचित्र्यता का सही कारण है ऐसा मानना उचित है।

दूसरी तरफ आप यदि ईश्वर को सृष्टि के वैचित्र्य का कारण मानोगे तो भी आवश्यक उपकरणों के रूप में जीव और कर्म का अस्तित्व प्रथम स्वीकारना ही पड़ेगा। क्योंकि आवश्यक उपकरणों के अभाव में ईश्वर सृष्टि की रचना कैसे कर सकेगा ? जैसे एक कुम्हार घड़ा बनाता है तो मिट्टी-पानी, अग्नि, दण्ड-चक्र आदि आवश्यक उपकरण उपस्थित हो तो ही बना सकता है। यदि ये उपकरण न हो तो कुम्हार घड़ा कैसे बनाए ? साधन के बिना बनाए किससे ? एक रसोईया रसवती बनाने में काफी कुशल है। सारी जानकारी अच्छी है। परन्तु सामग्री के अभाव में अच्छी रसोई कैसे बना सकेगा ? वैसे ही आपके कथनानुसार मान लिया कि ईश्वर सर्वज्ञ है। सृष्टि रचना एवं वैचित्र्यादि के निर्माण का पूरा ज्ञान ईश्वर को है। अतः वह सृष्टि निर्माण करने में समर्थ हैं। परन्तु हमारा यह पूछना है कि क्या समर्थ ईश्वर भी आवश्यक सामग्री के अभाव में भी सृष्टि निर्माण कर सकेगा ? जो आवश्यक उपकरण चाहिए उसके बिना ईश्वर सृष्टि कैसे बना पाएगा ? घड़ा बनाने के लिए जैसे मिट्टी, पानी आदि सामग्री की आवश्यकता है। रसोई बनाने

के लिए अनाज-सब्जी-पानी-अग्नि आदि कई सामग्री की आवश्यकता है उसी तरह सृष्टि निर्माण करने के लिए ईश्वर को भी जीव-कर्मादि आवश्यक उपकरण या सामग्री की आवश्यकता पड़ेगी। जबकि जीव कर्मादि सामग्री के अभाव में ईश्वर सृष्टि रचना करे यह संभव नहीं है। यदि आप सामग्री के अभाव में सृष्टि मानते हो तो अनाज-पानी-अग्नि आदि सामग्री के अभाव में रसोई बनाकर बताइए, या मिट्टी-पानी आदि किसी भी सामग्री के बिना घड़ा बनाकर बताइये। इस तरह संसार में अनर्थ की परम्परा चल पड़ेगी। अच्छा तो फिर कर्म फल देने में जीवों में कर्म का अस्तित्व क्यों माना है? क्यों ईश्वर किसी को कर्म का फल देते समय उस जीव के कर्मानुसार फल देता है ऐसा भी क्यों कहते हैं। फल देने के लिए कर्म भी आवश्यक सामग्री हो गई। यह तो आप खुद स्वीकार करके ही बोल रहे है। आपके शास्त्र कह रहे हैं कि—ईश्वर जीव के कर्मानुसार फल देता है। मतलब आपने ईश्वर निर्मित सृष्टि के लिए जीव और कर्म को अनुत्पन्न रूप से आवश्यक सामग्री मान ली है। और यदि नहीं मानते हैं तो ईश्वर का कृतिमत्व सामग्री के अभाव में निरर्थक सिद्ध हो जाएगा। दूसरी तरफ सामग्री को स्वीकारते हैं तो भी ईश्वर का कृतिमत्व निरर्थक-निष्प्रयोजन सिद्ध हों जाता है। चूंकि जो सामग्री या उपकरण के रूप में जीव-कर्म को स्वीकारते हो वे ही परस्पर संयोग-वियोग से संसार की विचित्रता का निर्माण कर लेते हैं। जीव स्वयं भी सक्रिय सचेतन द्रव्य हैं, फिर ईश्वर के कृतिमत्व की आवश्यकता ही कहाँ पड़ी? अतः जीव कर्म संयोग जन्य वैचित्र्य रूप संसार के लिए ईश्वर को कारण मानना युक्ति संगत भी नहीं लगता।

दूसरी तरफ ईश्वर ही जीवों के पास शुभाशुभ कर्म कराये और फिर वही उसके शुभाशुभ कर्म का फल देने वाला बने। सिर्फ अपने ईश्वरत्व-स्वामित्व की रक्षा के लिए फलदाता बने, यह द्रविड प्राणायाम क्यों करते हैं? विष्टा में हाथ-पैर गंदा करके फिर गंगा में धोने के लिए काशी यात्रा करना यह कहां तक युक्ति संगत है?

दूसरी तरफ **"जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः"** या **"जीवो ममैवांशः"** जीव ब्रह्म स्वरूप ही है कोई अलग नहीं है। या जीव मेरा ही अंश है अन्य नहीं है। यह कहने वाले भी जब सृष्टिकर्ता ईश्वर को फलदाता भी कहते हैं तो ईश्वर फल देगा किसको? जबकि उससे भिन्न तो जीव कोई है ही नहीं। अच्छा जब ईश्वरातिरिक्त जीव कोई है ही नही तो फिर कर्म किये किसने? करनेवाला ही नहीं है और फिर भी कर्म मानना और उसके आधार पर फल दाता ईश्वर फल देता है यह मानना अभाव पर भाव की परम्परा मानने जैसा है। या रस्सी को सर्प मानने का भ्रम ज्ञान है। तो क्या भ्रम ज्ञान

और ब्रह्म ज्ञान में कोई अन्तर ही नहीं है ? दूसरी तरफ ईश्वर को फलदाता मानकर भी अनुग्रह-निग्रह समर्थ भी मानना कहां तक सुसंगत है ? तो फिर करुणावान दयालु गुण प्रधान ईश्वर सभी जीवों पर एक साथ अनुग्रह क्यों नहीं कर देता ? यदि अनुग्रह नहीं करता है तो उसकी करुणा निरर्थक जाएगी। दूसरी तरफ दानवी सृष्टि असूर आदि भी ईश्वर द्वारा ही उत्पन्न किये हैं ऐसा मानते हैं तो फिर ईश्वर ने उनका निग्रह क्यों नहीं किया ? पहले दानवों को उत्पन्न करना और फिर निग्रह करना। फिर वही बात। विष्ठा में हाथ बिगाडो और धोने के लिए काशी गगा जाओ। ईश्वर जब सर्वज्ञ थे, सर्व वेत्ता थे, सब कुछ जानते थे तो फिर ईश्वरवाद जगत् कर्तृत्ववाद न स्वीकारने वाले और इसका विरोध करने वाले हमारे जैसों का क्यों निर्माण किया है ? क्या यह ईश्वर की भूल नहीं है ? यदि आप ईश्वर की सृष्टि में भूल निकालते हैं तो ईश्वर की सर्वज्ञता चली जाएगी। फिर तो भूल करें वह भी भगवान और भगवान भी भूल करता है यह स्वीकारना पड़ेगा। या हम ऐसा कहेंगे कि हमारा क्या कसूर है ? ईश्वर हमारे द्वारा ही यह विरोध करवा रहा है। हम तो निर्दोष हैं। कठपुतली की तरह हमको नचाता हुआ ईश्वर ही हमारे द्वारा यह करवाता है तो ईश्वर ही कारण ठहरेगा।

ईश्वर को कैसा मानें–इस द्विधा में आप पड़े हैं। अब इस भंवर में से बाहर कैसे निकलना यह एक समस्या है। जीव को माता की कुक्षी में शुक्र-शोणित ग्रहण कर पिण्ड बनाकर देह रूप में परिणत करने के कारण में कर्म ही कारण है। ईश्वर को न तो कारण मान सकते है और न ही सामग्री। अतः यह बात माननी ही पड़ेगी कि जीव कर्म रूप उपकरण के द्वारा ही देह का निर्माण करता है। अपना संसार जीव स्वयं ही बनाता है और चलाता है। इस तरह संसार में अनन्त संसारी जीव कर्माधीन हैं। सभी कर्म संयोगवश अपना-अपना संसार निर्माण करते हैं और चलाते हैं। बस ईश्वर को कर्तृत्व, फलदाता आदि के रूप में बीच में स्वीकारने की आवश्यकता नहीं है। बलात् जब दस्ती करने पर ईश्वरस्वरूप विकृत होता है।

ईश्वरकर्तृत्व की निष्प्रयोजनता

निष्कर्म = कर्म रहित जीव शरीरादि नहीं बनाता है। चूंकि वह निश्चेष्ट है। जो आकाशादि के समान निश्चेष्ट हो वह **आरम्भ** कार्य में असमर्थ होता है। कर्म रहित जीव जो सिद्धात्मा-मुक्तात्मा कहलाता है। वह निश्चेष्ट निष्क्रिय है तथा वहां कर्म उपकरण भी नहीं है अतः देह निर्माण या संसार निर्माण कुछ भी संभव नहीं है। जहाँ कर्म उपकरण है वहीं संभव है।

अब यदि आप ईश्वर को सशरीरी मानकर कुम्हार की तरह सृष्टि का कर्ता मानते हो तो हमारा प्रश्न यह है कि ईश्वर ने अपने शरीर की रचना स्वयं बनाई या दूसरे के द्वारा ? दूसरे के द्वारा मानने पर अनवस्था दोष आएगा। यदि यह कहें कि ईश्वर ने स्व शरीर की रचना स्वयं की। तो यह बताइये कि ईश्वर ने स्व शरीर की रचना सकर्म होकर की या अकर्म होकर की ? यदि कर्म रहित हो कर की कहेंगे तो आकाश भी कर सकता है। वह निष्कर्म है अथवा कर्म रहित ईश्वर सामग्री के अभाव में देह रचना कैसे कर सकता है ? तो फिर सिद्धात्मा भी कर सकता है। यह मानोगे तो सिद्ध पुनः संसार में आ जाएगा। अतः उनका सिद्ध होना व्यर्थ सिद्ध होगा। इस तरह तो सिद्धत्व ही निरर्थक निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा तो कोई सिद्ध बनेगा ही नहीं।

सिद्ध बनने के लिए पुरुषार्थ भी नहीं करेगा। पुरुषार्थ धर्म प्रधान है, वह भी नहीं करेगा। इस तरह सब कुछ निरर्थक-निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा। अच्छा अकर्म ईश्वर की सामग्री के अभाव में स्व शरीर रचना ही असंभव है तो फिर सृष्टि रचना कैसे संभव हो सकती है ? सकर्म मानते हैं तो सकर्मी तो मनुष्य भी है। पशु-पक्षी भी है। सकर्मी सशरीरी सभी हैं तो ईश्वर की मनुष्यादि से भिन्नता संभव नहीं है।

अच्छा यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के जीवों के शरीरादि या सृष्टि की रचना करता है तो निष्प्रयोजन प्रवृत्ति उन्मत्त प्रवृत्ति कहलाती है। अतः ईश्वर को उन्मत्त मानने की आपत्ति आएगी। अच्छा यदि कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्यों कहलाएगा ? ईश्वर ही अनीश्वर सिद्ध होगा। यदि अनादि शुद्ध ईश्वर भी सृष्टि की रचना करता है यह मानेंगे तो भी संभव नहीं है। कारण शुद्धि राग-द्वेषादि के अभाव में होती है। और रागादि के अभाव में इच्छा सिद्ध नहीं होगी। यदि इच्छा सिद्ध नहीं होती है तो इच्छा के अभाव में सृष्टि सभव नहीं है। अब क्या करेंगे ? इच्छा मानते हैं तो रागादि युक्त सकर्म ईश्वर मानना पड़ेगा और नहीं मानते हैं तो सृष्टि रचना में बाधा आएगी। इतो व्याघ्रस्ततो तटी जैसी स्थिति में छूटना मुश्किल है। अतः ईश्वर के ऊपर सृष्टि कर्तृत्व का बोझ डालकर ईश्वर का स्वरूप विकृत करने का कुकर्म न करें इसी में हमारी सज्जनता है।

करुणा में दोष

बुद्धिमानों की प्रवृत्ति प्रयोजन अथवा करुणा बुद्धिपूर्वक ही होती है। अतः यहां प्रश्न होता है कि ईश्वर स्वार्थ से सृष्टि निर्माण में प्रवृत्त होता है या करुणा-वृत्ति से ? स्वार्थ अथवा प्रयोजन मानें तो वह ईश्वर में कैसे घटेगी ? चूंकि ईश्वर तो

कृतकृत्य है। कृतकृत्य ईश्वर का प्रयोजन या स्वार्थ भी कैसे संभव हो सकता है? स्वार्थी कहना ईश्वर की ज्यादा विडंबना करने जैसी बात होगी। अच्छा यदि करुणा बुद्धि से मानें तो भी संभव नहीं है। क्योंकि दुःखों को दूर करने की इच्छा को करुणा कहते हैं। यह करुणा की व्याख्या गलत तो नहीं है। जबकि सृष्टि रचना के पहले जीवों के इन्द्रियां, शरीर और विषयादि नहीं थे तो फिर जीवों के दुःख ही कहां था? और जब दुःख ही नहीं था तो फिर किस दुःख को दूर करने की करुणा ईश्वर में उत्पन्न हुई? फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि करुणा प्रेरक इच्छा से प्रेरित होकर ईश्वर ने सृष्टि बनाई?

अच्छा यदि आप ऐसा कहो कि सृष्टि रचना करने के बाद दुःखी जीवों को देख कर ईश्वर में करुणा का भाव उत्पन्न हुआ। तो क्या यह इतरेतराश्रय दोष नहीं कहलाएगा? ईश्वर दुःखी जीवों को बनाए और फिर उन पर करुणा जगाए। उस करुणा से अनुग्रह करे। अरे भगवान! ऐसी समुद्री प्रदक्षिणा से क्या लाभ? इसकी अपेक्षा तो आप सृष्टि निर्माण करने का पक्ष ही न स्वीकारो तो क्या आपत्ति है? करुणा से जगत् की रचना और जगत् रचना से पुनः करुणा ऐसा यदि दोषयुक्त भी मानोगे तो तो अण्डे-मुर्गी की तरह यह क्रम सदा ही चलता रहेगा। इसका अन्त ही नहीं आएगा। करुणा से जगत्, जगत् से पुनः करुणा, पुनः करुणा से जगत् रचना, पुनः करुणा पुनः जगत्। इस तरह सदा ही करुणा और सदा ही जगत् की रचना चलती ही रहेगी। अच्छा यह बात यदि आपको आपकी पक्ष पुष्टि की लगे भी सही परन्तु सदा ही करुणा और सदा ही जगत रचना यदि चलती ही रहेगी तो ईश्वर संहार-प्रलय कब करेगा? या तो आपको दोनों में से एक पक्ष स्वीकारना पड़ेगा। परन्तु सृष्टि ही नहीं बनी होगी तो संहार किसका करेगा? सृष्टि की रचना ही सिद्ध नहीं हो रही है तो संहार-प्रलय की बात किसकी करें?

दूसरी तरफ सृष्टि और संहार दोनों एक साथ स्वीकारें तो भी संभव नहीं है। कुम्हार घडे बनाता जाय और फोडता जाय? मां बच्चे को जन्म देती जाये और फिर मारती जाये। फिर जन्म दे और फिर मार दे तो निरर्थक प्रसव पीड़ा सहन करने का दुःख क्यों सिर पर ले? उसी तरह दोनों स्वभाव साथ रखकर ईश्वर कार्य करे तो सृष्टि निर्माण और संहार दोनों एक साथ संभव भी कैसे हो सकता है? सृष्टि रचना निरर्थक निष्प्रयोजन सिद्ध होगी। आप यदि यह कहें कि लीला-विलास मात्र के लिए ही ईश्वर ऐसा करता है—यह पक्ष स्वीकारते हैं तो फिर करुणा-अनुग्रह-निग्रहादि या सर्वज्ञत्व या सर्वशक्तिमानादि पक्ष निष्प्रयोजन सिद्ध होंगे। करुणा के रहने पर संहार मानना यह पानी में से आग निकालने के बराबर होगा। करुणा से संहार

हो नहीं सकता है। तो क्या आप संहार-प्रलय के लिए दानवी-राक्षसी क्रूरता का अस्तित्व ईश्वर में मानेंगे? यह तो ईश्वर का उपहास करने की चरम सीमा हो जाएगी। क्रूर-दानव-राक्षस भी कहना और ईश्वर भी कहना यह मूर्ख व्यक्ति भी नहीं स्वीकारेगा।

अच्छा आप सृष्टि रचना और प्रलय कारक संहार दोनों ईश्वर के कार्य मानोगे तो ईश्वर में नित्यत्व सिद्ध नहीं होगा। अनित्यत्व आ जाएगा। अच्छा दोनों क्रिया के कर्ता भिन्न-भिन्न मानोगे तो आपका एकत्व पक्ष चला जाएगा। एक ईश्वर नहीं रहेगा। नाना ईश्वर मानोगे तो अनेकेश्वरवादी कहे जाओगे। यह तो पैर के नीचे की भी जमीन जा रही है।

क्या ईश्वर जिस स्वभाव से सृष्टि की रचना करता है उसी स्वभाव से संहार करता है या भिन्न स्वभाव से? यदि ईश्वर को सदा एक ही स्वभाव वाला मानोगे तो दो भिन्न-भिन्न कार्यों की संभावना ही नहीं रहेगी। सृष्टि रचना और प्रलय दोनों ही ठीक एक दूसरे के सर्वथा विपरीत कार्य हैं। अतः एक ही स्वभाव से दोनों विरोधी कार्य हो नहीं सकते तथा ईश्वर को एकान्त नित्य मानने पर सृष्टि की तरह संहार बन नहीं पाएगा। यदि ईश्वर सृष्टि रचना तथा संहारादि अनेक कार्यों को करेगा तो वह अनित्य हो जाएगा। अनेक कार्य तो आप स्वीकारते हैं। सिर्फ एक सृष्टि रचना ही नहीं अपितु पालन और संहार भी आप ईश्वर के ही कार्य के रूप में स्वीकारते हैं तो फिर अनेक कार्य हुए। और अनेक कार्यों के कारण ईश्वर में अनित्यता आ जाएगी। अनेक कार्य और एकान्त नित्य दोनों परस्पर विरोधी हैं यदि ईश्वर के स्वभाव में भेद नहीं है तो सभी कार्य एक साथ ही हो जायेंगे तथा एक स्वभाव से अनेक कार्य संभव नहीं हैं। चूंकि कार्यानुरूप स्वभाव एवं स्वभावानुरूप कार्य होता है। स्वभाव भेद अनित्यता का लक्षण है। आप ही कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि रचना में रजोगुण, संहार में तमोगुण, एवं स्थिति में सत्त्वगुण रूप से प्रवृत्ति करता है। इस तरह अनेक अवस्थाओं एवं स्वभावों के भेद एवं परिवर्तन से ईश्वर को एकान्त नित्य कैसे मान सकते हैं?

मान लो कि ईश्वर नित्य है तो उसमें रही हुई इच्छा भी नित्य होगी। इच्छा नित्य है तो सृष्टि रचना का कार्य नित्य चलते ही रहना चाहिए। इच्छा ईश्वर को सदा काल प्रवृत्त करती ही रहेगी। दूसरी तरफ आप ईश्वर में बुद्धि-इच्छा-प्रयत्न-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग और विभाग नामक आठ गुणों को स्वीकारते हो। ईश्वर की नित्यता के साथ इच्छा की भी सदा नित्यता ईश्वर में स्वीकारें तो नाना कार्यों के आधार पर इच्छाएं भी भिन्न-भिन्न विषयक माननी पडेगी। चूंकि

कार्य कई प्रकार के हैं। इस तरह ईश्वर की इच्छाओं के विषय होने से ईश्वर को भी अनित्य मानना पडेगा।

क्या ईश्वर को कर्ता या निमित्त कारण मानें ?

यदि ईश्वर ने पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु के परमाणुओं से तथा अदृष्ट (पूर्व कर्म संस्कार) को ध्यान में रखकर यदि जीवों के कल्याण हेतु इस जगत की सृष्टि की है और वह भी नित्य विद्यमान दिशा, काल और आकाश में की है तो फिर ईश्वर को अधिक से अधिक निमित्त कारण (Efficient Cause) मान सकते हैं परन्तु सृष्टि कर्ता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि न्यायवैशेषिक मतानुसार ईश्वर इस जगत को शून्य से उत्पन्न नहीं करता है। अच्छा इस तरह ईश्वर को निमित्त कारण मानें तो फिर ईश्वर जीवों की शुभाशुभ कार्य प्रवृत्ति में निमित्त नहीं बनेगा। चूंकि अदृष्ट ही जीवों के लिए कारण है। अपने पूर्वकृत कर्म संस्कार रूप अदृष्ट के लिए जीव स्वयं उत्तरदायी है ईश्वर नहीं। इस तरह जीव स्वयं अपने शुभाशुभ का कर्ता है तो उसे ही भोक्ता भी मानना ही पडेगा। कालानुसार वह जीव उस अदृष्ट (कर्म) के फल को भोगेगा। अतः ईश्वर का जीवों के शुभाशुभ कर्म एवं फल के विषय में हस्तक्षेप फिर नहीं रहेगा। अतः ईश्वर न तो सृष्टि कर्ता और न ही कर्म फल दाता सिद्ध होता है।

शुद्ध परमेश्वर-स्वरूप

इतनी सुदीर्घ एवं सुविस्तृत तर्क युक्ति पुरस्सर चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो सृष्टि की रचना करता है, प्रलय-संहारादि करता है-यह किसी भी रूप में सिद्ध हो नहीं सकता है। उसी तरह ईश्वर कर्म फल दाता के रूप में भी सिद्ध नहीं होता है। उसी तरह ऐसे ईश्वर के विषय में दिये गए विशेषण जगत का कर्ता, एक ही है, वही नित्य है, सर्वव्यापी तथा स्वतन्त्र है। ये कोई विशेषण भी सिद्ध नहीं होते। परस्पर विरोधाभाष इन विशेषणों से खडा होता है। जैसे तराजु में चूहों को तौलना कठिन है वैसे ही इन विशेषणों का तर्क युक्ति की तुला में बैठाना कठिन है, असंभवसा है। एक सिद्ध करने जाओ तो दूसरे टूटते हैं। दूसरे सिद्ध करने जाओ तो तीसरा असिद्ध होता है। इस तरह यह चर्चा तो काफी लम्बी-चौडी है। परन्तु मूल में ही जो सृष्टि कर्तृत्व माना है वही सिद्ध नहीं हो सकता है तो दूसरी बातें उसी के आधार पर सिद्ध नहीं होती है।

अतः निरीश्वरवादी जैनों का कहना है कि बलात् ईश्वर पर कर्ता-नित्य-एकादि विशेषण बैठाने से दोष आता है और ये विशेषण शोभास्पद नहीं ठहरते अपितु ईश्वर की विडंबना करते हैं। योग्य आभुषणों को स्वरूपवान स्त्री भी यदि

सुयोग्य स्थान पर नहीं पहनती है तो वह भी हास्यास्पद बनती है। उसी तरह ईश्वर में जो सृष्टि कर्तृत्व-फल दातृत्व आदि सिद्ध होते ही नहीं है उनको जबरदस्ती ईश्वर पर बैठाने से ईश्वर का स्वरूप हास्यास्पद-विकृत सिद्ध होता है। फिर ऐसे विकृत स्वरूप वाले, ईश्वर की हम उपासना, भक्ति-नामस्मरण-ध्यानादि कैसे करें? पत्नी को दुराचारिणी दुश्चरित्र देखकर फिर उसके प्रति प्रेम कैसे उत्पन्न होगा? इसी तरह विडंबना युक्त हास्यास्पद विकृत स्वरूप ईश्वर का देखते हुए उसके प्रति आदर-पूज्य-भाव, भक्ति भाव कैसे उत्पन्न होंगे? संभव ही नहीं है।

अतः ईश्वर को पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्वीकारना अनिवार्य है। उसे सृष्टिकर्ता संहारकर्ता न मानकर सर्व कर्ममुक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, राग-द्वेष रहित-वीतराग, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त मानना जरूरी है। मोक्षमार्ग का उपदेष्टा मानना चाहिए। आत्मा का ही पूर्ण शुद्ध स्वरूप है। विद्यानंदी ने यही कहा है—

मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, तीर्थेशं स्मृतिमानये॥

जो मोक्षमार्ग दिखाने वाले है, गन्तव्य मोक्ष तक ले जाने में सहायक आलम्बन है, कर्मों के पर्वतों को जिसने तोड़ दिये हैं, तथा जो समस्त विश्व के सभी तत्त्वो पदार्थों के ज्ञाता सर्वज्ञ है ऐसे तीर्थेश-तीर्थंकर को मैं स्मृति पटल में स्मरण करता हुँ। बात यही सही है। जो अरिहंत हो वही भगवान कहलाने योग्य है। परन्तु जो भगवान हो वह अरिहंत नहीं भी कहला सकते हैं। चूंकि अरिहंत अरि = काम क्रोधादि शत्रु (काम-क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेषादि), हंत = नाश अर्थात् जिन्होंने राग-द्वेषादि आत्म शत्रुओं का नाश–(क्षय) किया है ऐसे अरिहंत ही भगवान–ईश्वर कहलाने योग्य है।

ईश्वर ही नहीं परमेश्वर वे ही कहें जाएंगे। परम + ईश्वर = परमेश्वर। परम + आत्मा = परमात्मा। अतः जैन निरीश्वरवादी नहीं परमेश्वरवादी हैं। सृष्टि-कर्तृक ईश्वर को जैन नहीं स्वीकारते हैं, इस अपेक्षा से जैनों को निरीश्वरवादी कहना उचित है। परन्तु साथ ही साथ परम शुद्ध आत्मा को परमेश्वर कहते हुए जैनों को परमेश्वरवादी भी कहना होगा। परमोच्च-सर्वोच्च-परम शुद्ध–पूर्ण वीतराग परमात्मा को परमेश्वर मानने वाले जैनों ने प्रभु के स्वरूप में हास्यास्पदता या विकृति खड़ी नहीं की। अतः भक्ति उपासना में सदा ही परमात्मभक्ति करने वाले जैनों को नास्तिक कहना भी मूर्खता होगी।

जैन दर्शन अवतारवाद भी नहीं स्वीकारता। मुक्तात्मा मोक्ष से पुनः लौटकर संसार में नहीं आती। अपूर्ण पूर्ण बनता है। रागी-वीतरागी बनता है। अशुद्ध-शुद्ध बनता है। उसी तरह संसारी सिद्ध बनता है। बुद्ध-मुक्त बनता है। इसका उल्टा नहीं होता। अतः सर्व कर्म बंधनों से मुक्त सिद्धात्मापुनः संसार में नहीं आते, पुनः जन्म नही लेते। उन्हें न तो लीला करनी है, न ही अनुग्रह-निग्रह करना है, न ही सृष्टि रचनी है, न ही प्रलय करना है, न ही कर्म फल देना है। इन सब विडंबनाओं से ऊपर ऊठे हुए वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-कृतकृत्य-धन्य-धन्य हो चुके हैं। अतः न तो वहां कर्म बंध है, और कर्म बंध न होने से पुनरागमन नहीं है। चूंकि नीचे पतन या संसार में पुनरागमन तो कर्मजन्य है, और वहां मोक्ष में कर्म बंधादि का अभाव है। फिर अधः पतन संभव ही नहीं है। ऊपर से नीचे नहीं आते, मोक्ष से पुनः संसार में नहीं आते हैं। अतः अवतारवाद (उतरना) नहीं स्वीकारा गया हैं। अतः संसार से एक नहीं अनेक नहीं अनन्तात्मा मोक्ष में जाती है। गई हैं, जो भी सर्वकर्म क्षय करे वह मोक्ष में जाती है। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनती है। अतः जैन दर्शन अनन्तात्मवादी है। अतः अनन्तसिद्धात्मवादी हे। परमात्मा बनने की ठेकेदारी एक ही ईश्वर को नहीं दी गई है। जो भी सर्वकर्म क्षय करके परमात्म स्वरूप शुद्ध स्वरूप प्राप्त करे वह परमात्मा बनती है। इसलिए परम पद को कोई भी पामर प्राप्त कर सकता है। पामर ही परम बनता है, बन सकता है। सिर्फ उसे कर्मक्षय करते हुए उन गुणस्थानों से होते हुए गुजरना पडेगा। राग-द्वेषादि का क्षय हो जाएगा और सर्वज्ञता-वीतरागता प्रगट हो जाएगी, फिर सवाल ही कहां रहा ? पूर्ण परमात्मा बन गये।

ऐसे परमात्मा बनने के लिए पूर्व में बने हुए परमात्मा का आलम्बन लेना, उनकी स्तुति-स्तवना करना, उनकी प्रतिमा समक्ष दर्शन-वंदन-पूजन-पूजा करना उसी पद को पाने का आलम्बन है, भक्ति मार्ग है। अतः पूजा भक्ति यह उपासना मार्ग है। जाप-नामस्मरण-ध्यान-साधना आदि कई प्रकार उपास्य की उपासना के हैं, एक भी गलत नहीं है। दर्शन-पूजा-पूजन आदि को गलत कहना भी गलती है, भूल है। यही मार्ग है भक्ति का—जिससे भक्त भगवान बन सकता है। स्वयं परमात्मा ने पामरात्मा को यह मार्ग दिखाते हुए परमात्मा बनने का तरीका बताया है।

इस दृष्टि से सिर्फ सृष्टि कर्ता के स्वरूप में ईश्वर को न मानते हुए जैन शुद्ध पूर्ण परमेश्वर परमात्मा अरिहंत-वीतराग तीर्थंकर-सर्वज्ञ को भगवान ईश्वर मानते है। ईश्वर ही नहीं परमेश्वर मानने वाले जैनों को परमेश्वरवादी-परमात्मवादी सर्वज्ञात्मवादी वीतरागवादी, सिद्धात्मवादी, आदि शब्दों से नवाजना उचित होगा।

सिर्फ निरीश्वरवादी कहकर नास्तिक कहने की धृष्टता करने के बजाय पूर्ण परमात्म-वादी, पूर्ण परमेश्वरवादी कहना पडेगा। इतना ही नहीं सिर्फ आस्तिक ही नहीं पर-मास्तिक जैनों को कहना पडेगा। परमात्म भक्ति के उदाहरण के रूप में आज भी हजारों लाखों मंदिर जो लाखों वर्षों से विद्यमान हैं। इतने बडे तीर्थ और जिन मंदिरादि ही जैनों की परमास्तिकता-परमभक्ति की गौरव गाथा सदियों से गा रहे हैं। सदियों से पूजा हो रही है।

इस तरह जैन दर्शन ईश्वर कर्तृत्ववादी दर्शन नहीं है। अवतारवादी भी नहीं है। एकेश्वरवादी भी नहीं है, नित्य ईश्वरवादी भी नहीं है तो ऐसी मान्यता वाले हिन्दु धर्म की शाखा भी कैसे हो सकता है? नीम के वृक्ष की एक शाखा मीठी कैसे हो सकती है। आम्र वृक्ष की शाखा को नीम के वृक्ष की शाखा कैसे कह सकते हैं? जैन दर्शन की मौलिक मान्यता, एवं सिद्धान्त की धारा हिन्दु धर्म की विचार धारा से सर्वथा विपरीत ही है। दोनों में पूर्व-पश्चिम का या आसमान जमीन का अन्तर है तो फिर शाखा मानने का सवाल ही कहां उत्पन्न होता है? हिन्दु धर्म में से जैन धर्म निकला है यह कहना भी नितान्त तर्क युक्ति रहित है। अतः जैन दर्शन हिन्दु धर्म की शाखा नहीं है। न ही इसमें से निकला है।

यह एक स्वतंत्र मौलिक दर्शन है। स्वतंत्र धर्म है।

अतः परमेश्वर-परमात्मा का शुद्ध स्वरूप समझने के लिए यह सुदीर्घ विस्तृत चर्चा तर्क युक्ति पूर्वक की है। जिससे संसार एवं स्वयं के सुख-दुःख के कर्ता जगत कर्ता ईश्वर है या नहीं यह पता चल सके। अब एक पक्ष को विविध पासों में देख लिया कि ईश्वर इस संसार की विचित्रता, विषमता एवं विविधता तथा जीवों के सुख-दुःख का तथा कर्म फल का कारण नहीं है। यह स्पष्ट निश्चय एवं निर्णय होने के बाद अन्य कारण कालादि हो सकते हैं या नहीं इसके बारे में फिर आगे सोचेंगे। एक पक्ष में निर्णय हुआ अन्य निर्णय आगे देखेंगे।

—इति शुभं भवतु—

तीसरा प्रवचन-३

"कर्म सत्ता का अस्तित्व"

परमगुरू परमनाथ परमार्हन् परमपिता परमात्मा श्री महावीरस्वामी के चरणारविंद में कोटिशः वंदना पूर्वक.....

ईश्वरवाद की चर्चा कर चुके हैं इससे यह फलित हुआ कि ईश्वर न तो सृष्टि का कर्ता सिद्ध हो सकता है और न ही ईश्वर जीवों के कर्म का कर्ता व कर्म फल दाता भी सिद्ध नहीं हो सकता है। तो फिर संसार की विचित्रता, विविधता एवं विषमता आदि का कारण कौन हो सकता है? जीवों के सुख-दुःख का कारण कौन हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में दार्शनिकों ने काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत कर्म-पुरूषार्थ एवं यदृच्छा व अज्ञानादि अन्य कई कारणों पर विचार विमर्श किया है। उसकी थोड़ी संक्षेप में यहां विचारणा करें।

पांच कारणवाद— **कालादि की कारणता**

कालादीनां च कर्तृत्वं मन्यन्तेऽन्ये प्रवादिनः।
केवलानां तदन्ये तु मिथः सामग्र्यपेक्षया॥

शास्त्रवार्ता समुच्चय महाग्रन्थ में तार्किक शिरोमणि पूज्य हरिभद्र सूरि महाराज ने द्वितीय स्तबक में कालादि की चर्चा करते हुए लिखा है कि—कुछ एकान्तवादी विचारक एक मात्र काल या स्वभावादि को ही कार्य का हेतु मानते हैं। अर्थात् संसार की विचित्रता आदि तथा जीवों के सुख-दुःखादि में कारण रूप से काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत कर्मादि भिन्न-भिन्न को कारण मानते हैं। यह निरपेक्ष एकान्तवादी विचारधारा है। इससे भिन्न अनेकान्तवादी सापेक्षदृष्टि से कालादि को सापेक्ष रूप से सहकारी-सहयोगी कारण मानते हैं। कारण समूह-सामग्री के घटक रूप में सहकारी होकर कार्य के कारण होते हैं। व्यक्तिगत किसी भी एक को ही सम्पूर्ण कारण नही मान सकते। सिर्फ एकान्त पक्ष लेकर कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी आदि दार्शनिक विचारधाराओं का स्वतंत्र पक्ष क्या है? उसकी संक्षेप में थोड़ी समीक्षा यहां देखें।

कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।।

सिर्फ काल को मानकर चलने वाले एकान्त कालवादीयों का कहना है कि—काल ही उत्पन्न पदार्थों का पाक करता है। काल पृथ्वी–पानी–अग्नि–वायु आदि भूतों को पकाता है। काल ही प्रजा का संहार करता है। काल ही सोये हुए को जगाता है। सृष्टि निर्माण भी काल ही करता है। योग्य काल में ही गर्भ परिपक्व होता है। गर्भ निर्माण में भी काल कारण है। मुंग की दाल सिगड़ी पर रखने मात्र से ही नहीं पकती अपितु योग्य काल अपेक्षित है। इस तरह सृष्टि–स्थिति और प्रलय आदि की कारणता काल में ही है। अतः काल का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। यह कालवादियों का पक्ष है। अथर्ववेद कालसूक्त में कहा है कि—"काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं, काल के कारण ही आंखे देखती है, काल ही ईश्वर है, वह प्रजापति का भी पिता है। इत्यादि कहा है। (अथर्ववेद–१९५३–५४) अतः सृष्टि का मुख्य कारण ईश्वर के स्थान पर काल को मानने का सिद्धान्त रखा है। महाभारत में भी समस्त जीव-सृष्टि के सुख–दुःख एवं जन्म–मरणादि सब का आधार काल को ही विश्व की विचित्रतादि का कारण माना गया है। यहां तक कह दिया है कि कर्म, यज्ञ–यागादि अथवा किसी के भी द्वारा किसी को सुख–दुःख नहीं मिलता सिर्फ काल द्वारा ही प्राप्त होता है। समस्त कार्यों में काल ही कारण रूप है। यह कालवादी पक्ष है।

लेकिन एकान्त काल को ही समस्त कार्यों का कारण मानना भी उचित नहीं है। युक्ति संगत सिद्ध नहीं होगा। चूंकि काल जड़ तत्त्व है। अजीव पदार्थ है। अस्तिकाय रूप भी नहीं है। दूसरी तरफ एक काल में एक पदार्थ की उत्पत्ति मानोगे उसी समय आपको समस्त पदार्थों की उत्पत्ति मान लेनी पड़ेगी। क्योंकि काल जो एक में है वही सभी में सम्मिहित है। काल को आकाश की तरह सर्वत्र सर्व व्यापी मानना पड़ेगा। सभी जीवों की उत्पत्ति आदि सभी एक साथ ही माननी पड़ेगी। चूंकि काल का आधार तो सबको मिला है। दूसरी तरफ सब कुछ काल से ही होता तो गर्भ के लिए माता–पिता के शुक्र–शोणित आदि की आवश्यकता भी नहीं पड़ती और काल से ही सभी जीवादि सृष्टि उत्पन्न हो जाती। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। गर्भ के मूल कारण रूप में माता–पिता को स्वीकारना पड़ता है। हां काल

गर्भ की परिपक्वता में सहायक–अपेक्षित कारण जरूर हैं। अतः कालवादी का एकान्त काल पक्ष सुसंगत नहीं ठहरता। काल सभी कार्यों का असाधारण नियतपूर्ववर्ति कारण नहीं ठहरता। फिर तो कुम्हार मिट्टी–पानी–चक्र–दण्ड से घड़ा क्यों बनाता है? काल से ही घड़ा बनाना चाहिए। लेकिन नहीं यह भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः काल को उपयोगी–सहयोगी कारण जरूर मान सकते हैं परन्तु जनक कारण नहीं मान सकते।

स्वभाववाद

न स्वभावातिरेकेण गर्भ—बाल शुभादिकम्।
यत्किञ्चिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल॥

सर्वे भावाः स्वभावेन स्व–स्वभावे तथा तथा।
वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते, कामचारपराङ्मुखाः॥

दूसरे पक्ष में स्वभाववादी आ रहे हैं। स्वभाववादी कहते हैं कि—गर्भ, बालक, शुभ, स्वर्ग आदि जो भी कोई कार्य संसार में होता है वह सब स्वभाव के कारण ही होता है। बिना स्वभाव के कुछ भी नहीं होता। सभी भाव कार्य अपने या अपने उपादान के स्वभाव के बल पर विशिष्ट आकार प्रकार आदि से नियत होकर ही अपने अपने स्वभाव में अवस्थित होते हैं। भावों (पदार्थों) का नाश भी उनके स्वभाव से ही नियत–देशकाल में ही होता है, क्योंकि वे पदार्थ इच्छानुसार स्वतंत्र न होकर अपने स्वभाव के प्रति परतन्त्र होते हैं। मूंग का पाक भी सिर्फ काल से ही नहीं होता। क्योंकि अश्वमाष–पथरिले उडद या पथरिले मूंग घण्टों या दिनों तक भी सिगड़ी पर गरम पानी में उबलते रहें तो भी उसमें पाक नहीं आता है। अतः काल नहीं स्वभाव प्रमुख कारण है। श्वेताश्वतर उपनिषद में स्वभाववाद का उल्लेख है। वहां तो यहां तक लिखा है कि—जो कुछ होता है वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म या ईश्वरादि कोई कारण नही है। बुद्ध चरित एवं गीता महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख है। दूसरे गणधर अग्निभूति ने भी कर्म की शंका के विषय में भगवान महावीरस्वामी से चर्चा करते समय स्वभाववाद की चर्चा की है। वे भी स्वभाव को ही प्रमुख कारण मानने के पक्ष की बात करते थे तब प्रभु ने कहा—स्वभाव से जगद्–वैचित्र्य मानना अयुक्त है। चूंकि—स्वभाव क्या है? क्या स्वभाव वस्तु विशेष है? या वस्तु धर्म है? स्वभाव को वस्तु भी नहीं कह सकते। वह द्रव्य स्वरूप में दिखाई भी नहीं देती। स्वभाव

मूर्त है या अमूर्त ?—यदि मूर्त मानोगे तो स्वभाव कर्म जैसा ही है। फिर तो कर्म का दूसरा नाम स्वभाव हो जायगा। यदि अमूर्त मानोगे तो स्वभाव किसी का भी कर्ता सिद्ध नहीं होगा। जैसे आकाश अमूर्त है तथा कर्ता नहीं है वैसे ही स्वभाव भी अमूर्त होगा तो कर्ता नहीं होगा। शरीरादि मूर्त पदार्थों का कारण भी मूर्त पदार्थ ही होना चाहिए। अतः स्वभाव भी कर्ता नहीं हो सकता। अच्छा यदि स्वभाव को वस्तु-धर्म मान लो। अर्थात् स्वभाव सिर्फ आत्मा का धर्म मानें तो वह भी अमूर्त धर्म सिद्ध होगा। अमूर्त से मूर्त शरीरादि कैसे उत्पन्न होंगे। यदि स्वभाव को मूर्त वस्तु का धर्म माना जाय तो ठीक ही है। वह कर्म के पुद्गल पर्याय विशेष रूप में हुआ। इस तरह स्वभाव कर्म के रूप में सिद्ध हो जाएगा। अतः कर्म से कुछ नहीं होता सब कुछ स्वभाव से ही होता है यह पक्ष भी न्यायसंगत सिद्ध नहीं होता। अतः केवल स्वभाववाद पक्ष भी जगद् वैचित्र्य का कारण सिद्ध नहीं हो सकता।

नियतिवाद

नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः॥

कालवादी, स्वभाववादी के बाद तीसरे क्रम पर नियतिवादी दार्शनिक आए। एकान्त नियतिवाद को मानने वाले नियतिवादियों का कहना है कि—सभी पदार्थ नियतरूप से ही उत्पन्न होते हैं। नियतरूप का अर्थ है—वस्तु का वह असाधारण धर्म जो उसके सजातीय और विजातीय वस्तुओं से व्यावृत्त होता है। सभी पदार्थ किसी ऐसे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं जिससे उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नियतरूपता का नियमन होता है, पदार्थों के कारण भूत उस तत्त्व का ही नाम 'नियति' है। उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नियति मूलक घटनाओं का ही सम्बन्ध होता है। इसलिये भी सभी को नियतिजन्य मानना आवश्यक है। उदाहरण के रूप में कहते है कि—तीक्ष्ण शस्त्र का प्रहार होने पर सभी नहीं मरते परन्तु कुछ ही मरते हैं, कई जीवित रहते हैं। एक ही औषधि के सेवन से नियत लोग ही अच्छे होते है, कई अनेक मरते है। अतः प्राणियों का जन्म-मरण नियति पर नियत है, निर्भर है। जिसका मरण जब नियति सम्मत होता है तभी वह मरता है, अन्यथा नहीं। जिसका जीवन जब नियति सम्मत रहता है तब वह जीवित रहता है। मृत्यु का प्रसङ्ग आने पर भी वह नहीं मरता। यह नियतिवादी का प्रतिपादन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसका उल्लेख है। नियतिवादी कहते हैं कि संसार में सब कुछ निश्चित प्रकार से नियत है, और नियत रहेगा। सभी जीव नियति के चक्र में फंसे

हुए है। इस चक्र में परिवर्तन करने की जीव की शक्ति नहीं है। नियति एक चक्र है जो सतत घूमता रहता है। जीवों को नियत क्रमशः इधर-उधर घूमाता रहता है।

तथागत बुद्ध के सामने पूरण काश्यप नियतिवाद का समर्थन करता था। ऐसा त्रिपिटक में उल्लेख है। भगवान महावीरस्वामी के सामने मंखली गोशालक नियतिवाद का समर्थक था। महावीर प्रभु ने अपने काल में अनेक विख्यात नियतिवादियों के मत में परिवर्तन कराया है ऐसा उपासकदशाङ्ग अध्ययन ७ में उल्लेख है। धीरे-धीरे आजीवकमत जैन परम्परा में सम्मिलित होकर लुप्त हो गया। श्री भगवतीसूत्र में तथा श्री सूत्रकृतांग आगम में नियतिवाद का वर्णन किया गया है। अक्रियावाद भी नियतिवाद से मिलता-जुलता है। नियतिवाद की मुख्य घोषणा यह है कि—

प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाऽभाव्यं भवति न भावनोऽस्ति नाशः॥

अर्थात्—जो कार्य जिस समय जिस कारण से जिस रूप में उत्पन्न होने का नियति से निर्दिष्ट होता है वह उस समय उसी कारण से उसी रूप में उत्पन्न होता है। अभावि हो नहीं सकता और भावि टल नहीं सकता। अर्थात् जो वस्तु जिससे नहीं होने वाली है वह बहुत प्रयत्न करने पर भी उससे नहीं होती, और जो होने वाली होती है उसका कभी नाश याने विघटन नहीं हो सकता। इस तरह नियतिवाद की पुष्टि की गई है। सब कुछ ठीक लेकिन निरपेक्ष वृत्ति से एक मात्र नियति को ही कारण मानने से भी नहीं चलेगा। चूंकि नियति सत्ता का अस्तित्व किस स्वरूप में है? क्या यह वस्तु विशेष है या वस्तु धर्म? क्या यह मूर्त है या अमूर्त? क्या यह दृश्यमान कर्ता है या अकर्ता? क्या यह सिर्फ काल है या अकाल? नियतिः स्वतः स्वतंत्र सत्ता है या परतन्त्र-पराधीन है? ऐसे कई प्रश्न खड़े होते हैं? अतः नियति सर्वथा नही है ऐसी भी बात नही है परन्तु सिर्फ नियतिवाद को ही एक स्वतंत्र कारण मानकर चलना संभव नहीं है। अन्य कोई कारण न स्वीकारें और एक मात्र नियति ही समस्त संसार का कारण है या जीवों के सुख-दुःखादि का कारण है यह कहना भी युक्तिसंगत सिद्ध नही होगा।

पूर्वकृत-कर्मवाद

न भोक्तृव्यतिरेकेण भोग्यं जगति विद्यते।
न चाकृतस्य भोक्ता स्यान्मुक्तानां भोगभावतः॥

भोग्यं च विश्वं सत्त्वानां विधिना तेन तेन यत् ।
दृश्यतेऽध्यक्षमेवेदं तस्मात् तत् कर्मज हि तत् ।।

चौथे पक्षवाले-पूर्वकृत कर्मवादी है । वे कर्मवादी कहते हैं कि—इस चराचरात्मक जगत् में भोग्य की सत्ता भोक्ता की सत्ता पर ही निर्भर है, क्योंकि भोग्य यह सम्बन्धी सापेक्ष पदार्थ है । अतः भोक्तारूप संबंधी के अभाव में उसका अस्तित्व ही नही हो सकता । भोक्ता भी अकृत कर्म का भोग नहीं कर सकता क्योंकि जो जिसके व्यापार से उत्पन्न होता है वही उसका भोग्य होता है । यदि अकृत कर्म का भी भोग मानेंगे तो मोक्ष में बिराजमान मुक्तात्मा में भी भोग की आपत्ति आएगी । अतः जगत् भोक्ता के कर्मों से ही उत्पन्न होता है । सृष्टि की कारणता जीव-कर्मों में ही है । अन्य सभी कारण व्यभिचरित है यही सुसंगत सिद्ध होता है । अतः जीवों का पूर्वोपार्जित कर्म ही सुख-दुःखादि का कारणभूत है । इस तरह पूर्वकृत—या पूर्वोपार्जित कर्म को कारणरूप में स्वीकार किया गया है ।

पुरुषार्थवाद

सन्मतितर्क महाग्रन्थ में वादीमतंगज सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज ने पांचवें पक्ष में पुरुषार्थवाद की चर्चा करते हुए "पुरिसकारणेगंता" शब्द से 'पुरुष कारण विशेष' की मान्यता का समर्थन किया है । कई लोग काल-स्वभाव नियति-पूर्वोपार्जित कर्म आदि तथा ईश्वरादि कोई कारण न स्वीकारते हुए एकमात्र पुरुषार्थवाद को ही पक्ष मानते है । ये सब कुछ नहीं है । पुरुष अपने प्रयत्न विशेष से जो करता है वही होता है । सबका आधार एक मात्र कर्ता के ऊपर निर्भर करता है । अतः एक मात्र पुरुष कृति ही समर्थ कारण है । पूर्व कर्म में है तो क्या हुआ ? हम तो ऐसे नहीं ऐसा करेंगे । अतः हमारा पुरुषार्थ कारण बनेगा । क्या जरूर है कि हम दैववा (भाग्य) या कर्म या ईश्वर को कारण मानें ? कोई आवश्यकता नहीं है । ईश्वरा तथा पूर्वकृतकर्मादि सभी अदृष्ट-अदृश्य अप्रत्यक्ष कारण है अतः वे सभी संदेहात्मक-संशयात्मक है । एक मात्र पुरुषकृतित्व कारण ही दृश्य एवं प्रत्यक्ष कारण है । सुख-दुःख आदि भी पुरुषेच्छाधीन है । पुरुष अपने कारण से ही सुखी या दुःखी होता है । हम कर्माधीन ही मरेंगे ऐसी भी बात नहीं है । नियति ही हमें मारेगी ऐसी भी बात नही है । हम स्वेच्छा से आत्महत्या करके अभी मर सकते हैं । सब कुछ अभी ही अपनी कृति से कर सकते हैं । खेती करना पुरुष प्रयत्न पर निर्भर है । इस तरह पुरुषार्थवादी एक मात्र पुरुष कारणता को ही स्वीकार करते हैं । पुरुष चाहे वही कर सकता है । उसी की धारणानुसार सब कुछ होता है । अन्य कोई कारण नहीं है ।

उपरोक्त पांच कारण मुख्य रूप से माने गए है। काल-स्वभाव-नियति-पूवकृत कर्म एवं पुरुषार्थवाद ये पांच कारण प्रमुख है। इसके अलावा भी श्वेताश्वतर उपनिषद में यदृच्छावाद भी माना गया है। यह भी एक वाद था। यह भी एक पक्ष था। महाभारत में भी यदृच्छावाद का उल्लेख शांति पर्व में है। 'यदृच्छा' शब्द का अर्थ अकस्मात् किया जाता है। अर्थात् किसी भी कारण के बिना। इनका कहना है कि किसी भी कारण के बिना निष्कारण ही कांटे में तीक्ष्णता होती है। उसी तरह अनिमित्त-निमित्त के बिना भावों की उत्पत्ति होती है। अनिमित्तवाद, अकस्मात-वाद और यदृच्छावाद ये समानार्थक है। यदृच्छावादी मुख्य रूप से कारण की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं।

इसी तरह बुद्ध चरित में संजय बेलट्ठी के अज्ञानवाद को भी एक वाद के रूप में कहा गया है। सभी पदार्थों का ज्ञान संभव ही नहीं है। कहकर अज्ञानवाद की तरफ झूकने वाले अज्ञानवादी का भी एक पक्ष था। सूत्रकृतांग सूत्र में भी अज्ञान-वादी के निरसन की चर्चा की गई है। ये दोनों सामान्य कारण है। मुख्य कालादि पांच कारण है। इनमें क्या समझना ? किस पक्ष को सत्य समझें ? काल सही है ? या नियति सही है ? या स्वभाव ? या अन्य ? प्रत्येक का एक-एक का स्वरूप देखने पर ऐसा लगता है कि एक ही कारण सही है। कालवादी की बातें सुनते हैं तब वही सही लगती है। स्वभाववादी की बात सुनते हैं तब ऐसा लगता है कि यही पक्ष सही है। हम द्विधा में गिर जाते हैं ! कौनसा पक्ष स्वीकारें ? कौनसा सही है ? इसके उत्तर में सन्मतितर्क महाग्रन्थ में कहा है कि—

कालो-सहाव-णियई-पुव्वकम्म पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं तं चेव उ समासओ हुंति सम्मत्तं ॥

सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज फरमाते हैं कि—काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषार्थ (पुरुषकारणता) इन सभी को एकान्त निरपेक्ष बुद्धि से भिन्न-भिन्न मानना, या किसी एक को ही मानना, या स्वतन्त्र रूप से ही एक ही कारण न मानना ही मिथ्यात्व है। यदि इन पांचों कारणों को समवाय रूप से, पांचों को सापेक्षभाव से सभी को साथ में मानें, समुदाय रूप से, समास-संयुक्त रूप से मानें तो सम्यक् मान्यता होगी। तभी सम्यक्त्व होगा। अतः पांचों का सम्मिलित रूप ही स्वीकारना चाहिए। इसी बात को विशेष पुष्ट करते हुए पूज्य हरिभद्र सूरि महा-राज ने शास्त्रवार्ता समुच्चय ग्रन्थ में कहा है कि—

अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम् ।
गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः ।।
न चैकैकत एवेह क्वाचित्किञ्चिदपीक्ष्यते ।
तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता ।।

कालादि पांचों की संयुक्त कारणता

काल–स्वभाव–नियति–पूर्वकृत कर्म एवं पुरुणार्थ ये सभी कार्य में एक–एक प्रत्येक रूप से कारण नहीं है । स्वतन्त्र निरपेक्ष कारण मानने पर दोष आयेगा । अतः ये पांचों कारणों का समन्वय करना ही सम्यग् धारणा है । कालादि अन्य निरपेक्ष होकर कार्य के उत्पादक नहीं होते अपितु अन्यहेतुओं के सामग्रीघटक होकर कार्योत्पादकता होते हैं । नियति आदि एक एक कारणमात्र से जगत् में किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती किन्तु कारण सामग्री से ही देखी जाती है और कारण सामग्री उस कारण से कथंचित् भिन्नाऽभिन्न होती है । अतः एकैक कारण भी सामग्रीविधिया कार्य का कारण होता है । यदि निरपेक्ष हो तो अकारण होगा । कारण समुदायात्मक सामग्री में कार्य की उपधायकता बतायी है । कारणों को कार्य की उत्पत्ति में अव्यवहित उत्तर क्षण में बताया जाता है । कार्यरुपी पालकी को उठाने के लिए एक कारण सक्षम नहीं होता । पांचों कारण परस्पर सापेक्षभाव से मिलकर ही एक साथ उठायें तभी उठा सकेंगे । इन पांच कारणों में गौण–मुख्य भाव अपेक्षा से हैं । किसी भी कार्य में पांचों ही सम्मिलित होकर जरूर रहेंगे । लेकिन ये सभी गौण–मुख्य भाव से रहेंगे । जिसकी बलवत्ता होगी वह प्रमुख और अन्य गौण । अर्थात पुरूषार्थ की प्रधानता होगी तो दूसरों की गौणरूप से कारणता होगी । परन्तु होगी जरूर ।

उदाहरण के रूप में किसान खेती करता है तो उसमें वर्षाऋतु के काल की अपेक्षा रहती है । काल अनुकूल होना चाहिए । बीज में अंकुर उत्पन्न करने का स्वभाव होना चाहिए । बीज जला हुआ दग्ध होगा तो उगने का स्वभाव नष्ट होने के बाद कहां से उगेगा । नियति या भवितव्यता अनुकूल होनी चाहिए । नहीं तो टिड्डे आदि फसल को खत्म करदें अथवा पानी बाढ़ भी आ सकती है । अतिवृष्टि–अनावृष्टि भी फसल को खतम कर सकती है । अतः नियति भी सानुकूल होनी चाहिए । पूर्वकृतकर्मानुसार किसान का भाग्य भी ठीक होना चाहिए । वह भी पूरा साथ दे यह आवश्यक है । यदि पूर्वकर्मानुसार किसान रोग-ग्रस्त बीमार हो गया तो भी खेती नहीं हो पायेगी । ये चारों कारण ठीक तरह से

हो परन्तु पांचवां पुरुषार्थ यदि ठीक न हो तो, अर्थात् किसान आलसी हो. पुरुषार्थ करने में प्रमादी हो तो क्या होगा ? सब कुछ होते हुए भी खेती नहीं हो पायेगी। काल-स्वभावादि सब अनुकूल हो और एक भी विपरीत हो तो भी कार्य नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि खेती के एक कार्य में वर्षाऋतु का काल, बीज में अंकुरोत्पादक स्वभाव, अतिवृष्टि-अनावृष्टि न हो, बाढादि का न आना ऐसी सानुकूल नियति, पूर्वोपार्जित किसान का भाग्य जिससे जमीनादि अच्छी उपजाऊ मिलना, और अन्त में किसान का अप्रमत्त पुरुषार्थ, पूरे ध्यान से उत्साह-उमंग पूर्वक कार्य करना ये पांचों कारण सहकारी रूप से इकट्ठे होंगे तब एक खेती का कार्य होगा। ठीक इसी तरह समस्त जगत के सभी कार्य होंगे। इन पांचों कारणों का समुदाय रूप से शामिल होकर रहना अनिवार्य है। एक की अनुपस्थिति कार्य में बाधक बन जाएगी।

इसी तरह उदाहरणार्थ मोक्ष प्राप्ति एक कार्य है। इसके लिए भी पांचों कारणों का होना अनिवार्य है। जैसे—मोक्ष प्राप्ति में चरमावर्त काल का होना, और तथाभव्यत्व की परिपक्वता होनी चाहिये। मनुष्य भव चाहिये। धर्म सामग्री आदि देने वाला पूर्वकृत कर्म (पुण्य) चाहिये। इन सबके होते हुए भी स्वयं जीवात्मा चारित्र प्राप्त कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने के लिए कर्मक्षय का पुरुषार्थ करे यह भी आवश्यक है। इन कालादि पांचों कारणों के समुदाय रूप से सहयोगी होने से ही मोक्ष प्राप्ति का कार्य सिद्ध होगा। अन्यथा एक की भी कमी कार्य सिद्धि में बाधक बन जाएगी।

पांचों के स्वीकार में सम्यक्त्व

"एकान्ता सर्वेऽपि एककाः" कालः, स्वभावः, नियति, पूर्वकृत्, पुरुषकारण-रूपाः मिथ्यात्वम्। त एव समुदिताः परस्पराऽजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरुपतां पतिपद्यन्ते" ॥

सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज विरचित सन्मति तर्क महाग्रन्थ के तीसरे कांड की ५२वीं गाथा की टीका में पूज्य अभयदेवसूरिजी महाराज कहते हैं कि-ये कालादि सभी एकान्त रूप से एक एक स्वतन्त्र कारण मानें तो मिथ्यात्व कहलाएगा। उन्हीं पांचों को समुदाय रूप से परस्पर अजहत्वृत्ति से स्वीकार करें तो अर्थात् सापेक्षभाव से पांचों को मानें तो ही सम्यक्त्व=अर्थात् सही ज्ञान होगा।

चावल गरम पानी में डालते ही सिगडी पर पक नहीं जाते। उसमें भी काल

लगता है। चावल में पकने का स्वभाव भी होना ही चाहिये भवितव्यता भी अनुकूल ही चाहिये। कहीं स्टवादि फटकर दुर्घटना न हो जाय। तथा करने वाले का पूर्वोपार्जित प्रबल भाग्य भी चाहिए। चावलादि की प्राप्ति भी होनी चाहिए। तथा ईंधनादि लाना, पानी लाना, चढ़ाना आदि प्रयत्न-पुरुषार्थ भी करना ही पड़ेगा। वैसे ही दूसरा दृष्टांत लो-बेटे को पढ़ाना है। पण्डित बनाना है। तो एक ही दिन में पण्डित नही बनेगा काल ५-१०-१२ साल लगेंगे। बेटे का पढ़ने का स्वभाव भी होना चाहिए। पढ़ाई में उसकी रूचि चाहिए। नियति में-देश-क्षेत्र भी योग्य हो जहां स्कूल-कालेज आदि एवं शिक्षकादि उपलब्ध होने चाहिए। पूर्वकृत कर्मानुसार बेटे की बुद्धि भी अच्छी होनी चाहिए। यादशक्ति भी अच्छी हो। तथा पांचवां पुरुषार्थ होना भी जरूरी है। वह नियमित २-४ घंटे पढ़े। खेलने में ही समय न बिता दे। इस तरह कोई भी उदाहरण लीजिए इन पांचों समवायि कारणों का कार्य के लिए होना अपेक्षित है। तभी कार्य होगा। अतः कर्मवाद में भी ये पांचों अपेक्षित है। एक मात्र अकेला कर्म ही सब कुछ नहीं हैं। एक बीज बोया लेकिन उसके फलित होने में भूमि, हवा, प्रकाश, पानी आदि जिस तरह सहयोगी-उपयोगी कारण है उसी तरह एक कर्म के लिए भी कालादि सहयोगी कारण है। चाहे कर्म का बंध हो या कर्म का उदय हो चाहे सुख हो या दुःख हो उसमें भी कालादि पांचों कारण बाह्य-दृष्टि से अलग-अलग स्वतंत्र दिखाई देते हुए भी तात्विक दृष्टि से पांचों ही हिल-मिलकर समुदित रूप से ही कार्योत्पत्ति में कारण बनते है। अतः अलग-अलग मानना, या एक को मानना और दूसरे को न मानना यह भी ठीक नहीं है। संयुक्त रूप से पांचों मानना, यही सम्यक् पक्ष है। कभी कभी अत्यधिक पुरुषार्थ करने पर भी जब कार्य सिद्धि नहीं होती तब पूर्व कर्म को बलवान मानना पड़ता है। उसी तरह कभी पूर्व कर्म कमजोर हो, शिथिल हो तो नया पुरुषार्थ उसे भी बदल देता है। इस तरह गौण-मुख्य भाव की प्राधान्यता से पांच समवायिकारणवाद को स्वीकारना सम्यक् पक्ष है।

कर्म का कर्ता कौन ?

ईश्वर कर्तृत्ववाद के बारे में काफी विस्तार से परामर्श तर्क-युक्ति पूर्वक किया है। जिससे स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि ईश्वर न तो सृष्टि का कर्ता है और न ही जीवों का कर्ता, तथा जीवों के शुभाशुभ कर्मों का कर्ता भी वह नहीं है। उसी तरह जीवों को कर्म का फल देने वाला फलदाता भी वह सिद्ध नहीं हो सकता। यद्यपि गीता में कर्तृत्ववाद के ही आधार पर श्रीकृष्णजी अर्जुन को कह रहे हैं

कि—"**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**" हे अर्जुन ! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है। तू कर्म करता रह। फल की चिन्ता मत करना। फल देने का कार्य मेरे हाथ में है। यह भी विचारणीय है। कर्म हम करें और फल देने का कार्य ईश्वर के हाथ में भी क्यों ? हमारे किये हुए कर्मानुसार हमें फल मिल जाता है तो फिर नाहक ईश्वर को वैसा फल देने के लिए बीच में क्यों घसीटें ? फल देने में भी ईश्वर का स्वरूप पुनः विकृत हो जाएगा। कर्ता जीव स्वयं ही जैसा करता है वैसा फल पाता है। स्वोपार्जित कर्म उस जीव के साथ है। आत्मा के साथ संलग्न है। जन्म-जन्मान्तर तक कर्म आत्मा के साथ रहते हैं और ठीक समय पर उदय में आकर वह अपना फल दिखा जाते है। फिर क्या आवश्यकता है कि कर्म फल का दाता ईश्वर को मानें ? चावल सिगड़ी पर है, गर्मी मिल रही है, पानी है उसमें विदलन की क्रिया-पकने की क्रिया स्वतः हो रही है फिर ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही कहां पड़ी ? गाय ने घास खाई और उसके शरीर में दूध बना। यह घास खाने की क्रिया का फल है। यहां क्रिया के फल के रूप में ईश्वर की आवश्यकता कहां पड़ी ? और यदि बलात् भी आप फल के लिए ईश्वर को मानेंगे तो सभी गायें घास खाती है सभी में दूध क्यों नहीं बनता ? फिर ईश्वर सभी को समान फल नहीं देता है। क्यों नहीं ? फल देने में भी ईश्वर पक्षपात करता है। ईश्वर स्वार्थाधीन हो जाता है। तो फिर ईश्वर में ईश्वरीय गुण ही नहीं रहे। और ईश्वरीय गुणों के अभाव में हम उसे ईश्वर ही कैसे कहें ? सामान्य मानवो सिद्ध हो जाएगा। दूसरी तरफ ईश्वर तो परम दयालु है। अनुग्रह बुद्धिवाला करूणामय कारूणिक है तो फिर वह तो जीव के कर्म को देखकर दयाभाव से माफ ही कर देगा। जीव को फल दिये बिना ही छोड़ देगा। यही होना चाहिए। और दयाभाव है तो सभी जीवों के प्रति समान भाव से दया आनी चाहिए सभी के कर्मों को माफ कर देना चाहिए। फिर किसी के कर्मों को माफ करता है और किसी के कर्मों को नहीं। ऐसा क्यों ? अच्छा जिनके कर्मों को ईश्वर माफ नहीं करता है तो क्यों नहीं करता है ? वहां ईश्वर की दया करूणा कहां चली गई ? दया के अभाव में क्रूरता मानोगे तो ही नरकादि का फल देने का कार्य ईश्वर में संभव हो सकेगा। चूंकि नरकादि का फल तो क्रूरता से क्रूरवृत्ति से ही सम्भव है। ईश्वर यदि क्रूर-निष्ठूर बन जाएगा तब ईश्वर का स्वरूप कैसा बनेगा ? तो फिर नरक संत्री परमाधामी नरपिशाच उन राक्षसों को ही ईश्वर मान लें क्या ? चूंकि वे महा क्रूर होते हैं हिंसक वृत्ति वाले होते हैं। नरक गति में जीवों को मारना, काटना, पकोड़े की तरह उबलते तेल में तलना, चमड़ी उतार देना आदि नाना प्रकार से जीवों को कर्म

का फल देते हैं। तो क्या ऐसे परमाधामी नरकसंत्री को ईश्वर मानें ? क्या यह ईश्वर का स्वरूप हो सकता है ? और ऐसा विकृत हिंसक एवं क्रूर स्वरूप ईश्वर का हो तो फिर उसकी उपासना कैसे करें ? मोक्ष दाता के रूप में उसे कैसे मानोगे ? इत्यादि विचारणा करने से फल दाता के रूप में भी ईश्वर को बीच में लाने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

दूसरी तरफ सृष्टि रचना के पहले तो जीवों में कर्म नहीं होंगे। फिर सृष्टि की रचना करके निरर्थक ईश्वर ने उन जीवों को दुःख के सागर में क्यों गिरा दिया ? वह भी सिर्फ अपनी लीला दिखाने के लिए। सिर्फ अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए। दूसरी तरफ जब जीवों को कठपुतली की तरह रखा है। ईश्वर ही उनका नियन्ता है। ईश्वर की क्रिया से ही वे सभी जीव क्रियान्वित होते हैं। अर्थात् इन कठपुतली जैसे जीवों के पास ईश्वर ही क्रिया कराता है। सब कुछ ईश्वर की इच्छा के आधीन ही होता है। वह करावे वही होता है। जीव स्वयं कुछ भी नहीं करता ईश्वर ही जीव के हाथों ऐसा कार्य ऐसी क्रिया कराता है। अच्छा मानलें कि ईश्वर ही स्व इच्छानुसार जीवों के पास कराता है। जीवों में होती अच्छी बूरी—सभी क्रियाओं का कर्ता ईश्वर सिद्ध होता है। अब ये क्रियाएं ईश्वर ने कराई है इसमें स्पष्ट है कि जीव तो क्रिया का कर्ता है ही नहीं। वह तो बिचारा कठपुतली की तरह निष्क्रिय है। अच्छा अब जब क्रिया=कर्म हो चुके तो फिर ईश्वर उसको अच्छा–बूरा फल क्यों देता है ? फल देते समय ईश्वर सुख–दुःख दोनों देता है। सुख–दुःख देने के लिए सुख की गति और दुःख की दुर्गति में जीवों को भेजता है। तो यह क्यों ? कोई जीव यह कहे कि हे भगवन् ! मुझे नरक में मत भेजिये। मुझे ऐसा दुःख मत दीजिये। क्योंकि मैंने तो कोई पाप मेरी स्वेच्छा से किये ही नहीं है आपने ही आपकी इच्छानुसार मेरे से वह पाप करवाया है। वैसी क्रिया करवाई है तो उसमें मेरा क्या कसूर है ? अब उसका फल मुझे मत दीजिए। लेकिन ईश्वर किसी की सुनता ही नहीं है। वेद–स्मृति–श्रुति–पुराण कहते हैं कि ईश्वर तो जीवों के कर्मानुसार फल देता है। तो ये कर्म जीवों के कर्म कहे जाएंगे ? या ईश्वर के खुद के कर्म ? चूंकि ईश्वर ने जीव के पास करवाए हैं फिर जीव के कर्म कैसे कहे जाएंगे ? यदि जीव के कर्म नहीं कहे जा सकते तो उसका फल जीव को क्यों मिलता है ? वाह पहले जीवों के पास ईश्वर वैसी क्रिया करवाये और फिर उसका फल भी ईश्वर दे। यह कैसा अज्ञान लगता है ? यह किस घर का न्याय ? निर्दोष बिचारे जीव को निरर्थक फल देना। यह तत्त्वज्ञान की सही दिशा ही नहीं है। अतः तत्त्वज्ञान का सम्यग् सही स्वरूप समझने के लिए ईश्वर को बीच में लाओं ही मत। जीव स्वयं ही राग-द्वेषा-

धीन होकर वसे शुभाशुभ कर्म करता है। अतः कालान्तर में उस किये हुए कर्मों का फल भी जीव स्वयं ही पाता है। पूर्वोपार्जित कर्मानुसार जीव स्वर्ग-नरक में जाता है। तथा प्रकार के सुख-दुःख भोगता है। ईश्वर की बीच में आवश्यकता ही नहीं है। हां उपासना के लिए, परम आलम्बन के स्वरूप में उपास्य तत्व के रूप में परमात्मा-परम विशुद्ध राग-द्वेष रहित वीतराग—सर्वज्ञ भगवान का उपासना के लिए हम आलम्बन अवश्य लें जिससे कर्मक्षय में वसी सुन्दर प्रेरणा प्राप्त हो। उसके जैसा बनने की दिशा प्राप्त हो इसलिए परमात्मा-परमेश्वर की उपासना आवश्यक है। जाप-स्तुति-पूजा-पूजन-ध्यानादि उपासना के तरीके है। इन माध्यमों से उपासना होगी। ऐसी उपासना में उपास्य तत्व परमात्मा को, आलम्बन—उच्च ही नहीं सर्वोच्च आदर्श के रूप में बिराजमान करने के लिए सुन्दर मन्दिर होना जरूरी है। सुन्दर मन्दिर में प्रभु की सुन्दर प्रतिमा, अर्थात् प्रभु की प्रतिकृति होना भी आवश्यक है। वही आलम्बन है। भाव विशुद्धि आदि के लिए द्रव्य के माध्यम से भक्ति-पूजा-दर्शन आदि आवश्यक है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि जीवों के कर्म का कर्ता ईश्वर नहीं जीव स्वयं है। सुख-दुःख का कर्ता भी जीव स्वयं है। फल दाता भी ईश्वर नहीं जीव स्वयं है। चेतनात्मा ही स्वयं कर्म का कर्ता है। वही कर्म करता है। और कृत कर्मों का फल भी वही भोगता है। यही जीव का स्वरूप बताते हुए हरीभद्रसूरि महाराज ने लिखा है कि—

यः कर्ता कर्म भेदानां भोक्ता कर्म फलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता सह्यात्मा नान्य लक्षणः॥

जो स्वयं कर्म का कर्ता हो, और किये हुए कर्मों के फल का भोक्ता हो, तथा जो संसार में सतत परिभ्रमण करता हो वही संसारी जीव है। कर्म एक क्रिया विशेष जन्य है। अतः क्रिया अपने आप हो नहीं सकती। क्रिया का कोई न कोई कर्ता होना ही चाहिए। वह कर्ता ईश्वर नहीं जीव है। जीवात्मा ही कर्म करती है और किये हुए कर्मों का फल भी वह स्वयं भोगती है।

कर्म सत्ता न मानें तो क्या ?

रोटी न खाएं तो क्या होगा? भोजन न करें तो क्या होगा? शादी न करें तो क्या होगा? पढ़ाई न करें तो क्या होगा? व्यापार-नौकरी न करें तो क्या होगा? खाना, भोजन करना, पढ़ाई करना, नौकरी करना आदि क्रियाएं है। इन सभी क्रियाओं का कर्ता तो एकमात्र जीव है। जीव

नहीं होगा तो क्रिया करेगा कौन ? क्रिया का कर्ता कौन सिद्ध होगा ? कर्ता के अभाव में कोई क्रिया नहीं होती है। अतः क्रियाएं जगत में होती हैं तो उसका कर्ता जीव भी अवश्य मानना ही पड़ेगा। उसी तरह कर्म भी क्या हैं ? कर्म क्रिया जन्य है। अतः इस क्रिया का कर्ता भी जीव ही है। वही कर्म करता है। यदि ऐसे कर्मों को न माना जाय तो क्या होगा यह विचार करिए। अभी तक जो हम सोचते आए हैं, जिस बात पर विचार किया हैं कि जगत है, जगत विचित्रताओं से भरा पड़ा है। समस्त संसार में नाना प्रकार की विचित्रता, विविधता एवं विषमता भरी पड़ी है। जबकि इनका कर्ता ईश्वर किसी भी रूप में सिद्ध हो ही नहीं सकता, तो फिर जीव ही कर्ता के रूप में सिद्ध होगा। और उस जीव कर्ता की क्रिया के रूप में कर्म सिद्ध होगा। अतः समस्त संसार की सारी विचित्रताओं, विषमताओं आदि का एकमात्र कारण कर्म ही सिद्ध होगा। अतः ये कर्मजन्य विचित्रता, विषमता आदि है। अब कर्म सत्ता को ही नहीं मानेंगे तो पुनः विसंगति आएगी। जबकि विचित्रता आदि तो संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इनका तो कोई निषेध नहीं कर सकता, चूंकि सभी जीवों की आंखों के सामने समस्त ससार की विचित्रताएं, विषमताएं आदि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। ये तो संसार में भरी पड़ी है। अतः इनके पीछे कर्म की कारणता अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी।

जैसे हम धूंए को देखकर अग्नि का निर्णय करते हैं। चूंकि यह निश्चित है कि जहां-जहां भी धूंआं रहता है वहां अग्नि निश्चित रूप से अवश्य ही रहती है। धूंए का अग्नि के साथ अविनाभाव संबंध है। धूंआं अग्नि के बिना उत्पन्न ही नहीं होता है अतः उसके बिना रह भी नहीं सकता। हम मकान के ऊपर से या दूर से धूंआं देखते हैं। धूंआं पहले दिखाई देता है। जबकि अग्नि दिखाई नहीं भी देती। परन्तु धूंए को प्रत्यक्ष देखकर आग लगी है यह अनुमान लगाते है यह ज्ञान भी सही है। चूंकि कार्य कारणभाव सही है अतः ज्ञान भी सही है।

ठीक इसी तरह संसार की विचित्रता, विषमता, विविधता को देखकर कर्म का अनुमान ज्ञान सही ठहरता है। चूंकि विचित्रता आदि का कर्म के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, कार्य कारणभाव का सम्बन्ध है, विचित्रता आदि कार्य है। कार्य कभी कारण के बिना हो नहीं सकता। अतः विचित्रता आदि कार्य के पीछे कर्म की कारणता अनिवार्य है। ईश्वरादि की कारणता सिद्ध हो नहीं सकती। कर्म की कारणता कसौटी पर खरी उतरती है। अतः कर्म ही समस्त संसार की विचित्रता आदि का एकमात्र कारण सिद्ध होता है।

निश्चित युक्ति संगत अनुमान भी ज्ञान की प्रक्रिया है। श्रुतज्ञान का साधन है। अतः अनुमान यदि अकाट्य और सही है तो ज्ञान की धारा भी निश्चित सही है। अनुमान का भी मूल आधार प्रत्यक्ष होता ही है। जैसे अग्नि के अनुमान ज्ञान में धूम का प्रत्यक्ष होता है। धूम तथा अग्नि की अन्वय व्याप्ति होती है। व्याप्ति सम्बन्ध से निश्चित ज्ञान होता है। अतः धूम्र को देखकर अग्नि की सिद्धि करते हैं। उसी तरह संसार में सुख-दुख सामने दिखाई दे रहे हैं। सुख दुःख तो गुण स्वरूप है, अतः गुण दिखाई नहीं देते। गुण किसी द्रव्य के आधार पर ही रहते हैं। गुण-गुणी का अभेद सम्बन्ध रहता है। अतः गुण किसी गुणी में ही रहेंगे। सुख-दुःख वाला गुणी सुखी-दुःखी कहलाएगा। अब आप बताइये कि संसार में सुखी-दुःखी लोग है कि नहीं? इस बात में कौन ना कह सकेगा? मना करना सम्भव ही नहीं हैं। सुखी-दुःखी प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। सैकड़ों नहीं लाखों करोड़ों हैं। हम स्वयं भी सुखी-दुःखी है, सुखी सुख के कारण है, दुःखी दुःख के कारण है।

अब बात यह है कि सुख-दुःख क्या है? कार्य है या कारण? उदाहरणार्थ धूंए और अग्नि मै धूंआं कार्य है उसका उत्पादक कारण अग्नि है। जैसे घड़ा कार्य है और मिट्टी कारण है। कारण नहीं होता तो कार्य बनता ही नही। अग्नि नहीं होती तो धूंआं निकलता ही नहीं। मिट्टी नहीं होती तो घड़ा बनता हीं नहीं। कार्य बिना कारण के नहीं होता, कार्य का कारण के साथ निश्चित सम्बन्ध है। उसी तरह यहां सोचिए कि सुख-दुख क्या है? ये कार्य है या कारण है? कारण तो हो नहीं सकते। कारण मानें तो सुख-दुःख से फिर आगे कार्य क्या मानें? अतः कार्य ही मान सकते हैं। ये कार्य है तो इनका कारण क्या? सुख-दुःख का कारण ईश्वर को मान नहीं सकते। चूंकि सैकड़ों दोष आते हैं और ईश्वर का स्वरूप भी विकृत हो जाता हैं फिर भी कार्य स्वरूप सुख-दुःख ईश्वर के कारण सिद्ध नहीं हो सकते। अब कार्य है यह निश्चित है तो कारण भी निश्चित मानना ही पड़ेंगा। चूंकि कार्य कारण के बिना सम्भव नहीं हो सकता। अतः कार्य के लिए कारण अवश्य ही मानना पड़ता हैं।

सुख-दुःख कार्य के कारण रूप में कर्म को मान सकते हैं, कर्म ही एकमात्र कारण ऐसा सिद्ध होगा जो सर्वथा सर्व दोष रहित होगा। अग्नि से जैसे धूंआं निकलता है। यहां अग्नि कारण और धूंआं कार्य है। मिट्टी घड़े के लिए कारण

हैं। ठीक उसी तरह सुख के लिए जीव के शुभ कर्म कारण है। शुभ कर्म को ही शास्त्रीय परिभाषा में पुण्य कहते हैं। अतः पुण्यानुसार ही सुख प्राप्त होता है।

कार्य	—	**सुख**	—	**दुःख**
↑		↑		↑
कारण	—	**शुभ (पुण्य) कर्म**	—	**अशुभ (पाप) कर्म**

इसलिए शुभ पुण्य-कर्म सुखरूपी कार्य का कारण सिद्ध होता है। उसी तरह दुःख भी कार्य है। इसका कारण अशुभ पाप कर्म है। अशुभ पाप कर्म जीव ही उपार्जित करता है। उसी कारण दुःख भोगता है। इसलिए दुःख का एकमात्र कारण जीव द्वारा उपार्जित अशुभ कर्म ही है। कार्य का कारण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रहता हैं। उसी तरह सुख-दुःख रूप कार्य का शुभाशुभ कर्म ही कारण हो सकता है। सुख-दुःख का अविनाभाव सम्बन्ध शुभाशुभ कर्म के साथ निश्चित रूप से है। शुभाशुभ कर्म नहीं रहेंगे तो सुख दुःख रूपी कार्य भी नहीं रहेंगे। अतः यही न्याय संगत सिद्ध होता है। अन्य कोई भी कारण सिद्ध हो नहीं सकता। ईश्वरादि अविनाभाव सम्बन्ध भी नही गिने जाएंगे। कालादि भी सम्भव नहीं है। कार्य के लिए कारण अनन्यथा सिद्ध नियत पूर्ववर्ती होता है। कारण का लक्षण ही "अनन्यथासिद्धत्वे सति नियतपूर्ववर्तित्वं कारणस्यलक्षणं" बताया गया है। इस तरह भी सोचें तो सुःख-दुःखात्मक कार्य के लिए अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ति कारण शुभाशुभ कर्म ही हो सकता है। अतः सुख-दुःख के आधार पर कर्म की सिद्धि होती है।

सुख-दुःख वाला जो सुखी-दुःखी व्यक्ति विशेष उसी के उपार्जित शुभाशुभ कर्म का वह कार्य है। अतः किसी को सुखी देखें तब यह कारण समझना चाहिये कि इस जीव ने शुभ पुण्य कर्म उपार्जित किया है। जो भूतकाल में किया था और आज वर्तमान में यह सुख रूप फल भोग रहा है। किसी दीन-दुःखी दरिद्र को देखकर उसने अशुभ पाप कर्म उपार्जित किया होगा अतः उस कर्मानुसार आज यह दुःखी है। अग्नि के लिए धूम का प्रत्यक्ष होना जिस तरह अनिवार्य है उसी तरह कर्म के अनुमान के लिए सुखी दुःखी का प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है। अतः सुखी-दुःखी को प्रत्यक्ष देखकर शुभाशुभ कर्मों का सही ज्ञान होता है। ये कर्म चाहें एक व्यक्ति के हों या चाहे समष्टि के हों। संसार में अनन्त जीव हैं। अनन्त जीव सभी कर्मग्रस्त है। सभी कर्म बांधते हैं अतः सभी कर्म फल भोगतें हैं। अब यह सोचें कि कर्म क्या है? जीव क्या है? क्यों जीव कर्म बांधता है? यह संसार क्या है? इस संसार में क्या है? इत्यादि।

लोक–अलोक स्वरूप

अनन्ताकाश स्वरूप लोक है। लोक शब्द यहां क्षेत्र वाची है। इस अनन्त आकाश के दो विभाग किये जाते हैं। एक अलोक एवं दूसरा लोक। अलोक एवं लोक इन दोनों शब्दों के साथ आकाश शब्द जोड़कर एक शब्द बनाकर व्यवहार करें तो (१) अलोकाकाश एवं (२) लोकाकाश शब्द बनेंगे। जिस क्षेत्र का अन्त ही नहीं है वह अनन्त आकाश स्वरूप है। जिस लोक में रहने वाली कोई भी वस्तु नहीं रहती वह अलोक है। जीव या अजीव, अलोक में कुछ भी नहीं रहता है अर्थात् एक सूक्ष्म जीव भी अलोक में नहीं रहता है उसी तरह अजीव तत्त्व के पुद्गल का सूक्ष्म परमाणु भी जहां नहीं रहता है वह अलोक है। तो फिर अलोक में क्या है? इसका उत्तर इसीके वाचक शब्द से मिल जाता है। अलोक+आकाश=अलोकाकाश अर्थात् अलोक में सिर्फ आकाश है। आकाश आधार द्रव्य है। जो जीव–अजीव द्रव्यों का आधार है। आकाश अवकाश देता है। जीव एवं अजीव को रहने के लिए स्थान-जगह प्रदान करना इसका गुण है। परन्तु अलोक में जीव अजीव दोनों ही नहीं है अतः जगह दे तो भी किसको दे? इसीलिए अलोक कहलाता है। इस अलोक का आकाश रिक्त आकाश कहलाता है। अतः इसे शून्याकाश भी कहते है। शून्य=अर्थात् रिक्त स्थान। खाली जगह। जहां कुछ भी नहीं है। सिर्फ यह अलोकाकाश अनन्त है। इसका अन्त ही नहीं है। सीमातीत है।

लोक स्वरूप

इस अनन्त अलोकाकाश के केन्द्र में लोक है। जैसा कि चित्र में दिखाया गया

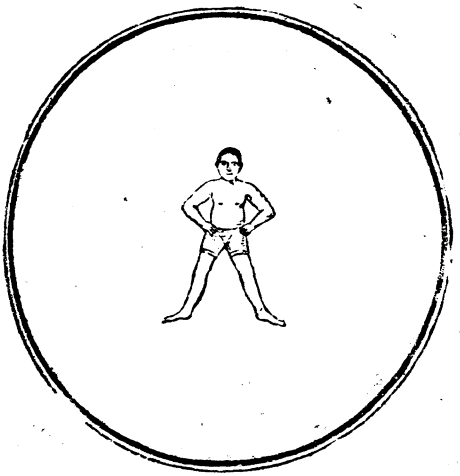

है कि पुरुष अपने दोनों हाथ कमर पर रखे हुए और दोनों पैर फैला कर खड़ा है। इसी आकृति का लोक है। अतः इसे लोक पुरुष भी कहा जाता है। जिसे हम विराट ब्रह्माण्ड कहते हैं वही यह विराट लोक है। अनन्त अलोकाकाश के केन्द्र में रहे इस लोक स्वरूप की सीमा बताने के लिए पुरुषाकृति दी गई है। चूंकि अलोकाकाश तो अनन्त है। परन्तु लोकाकाश अनन्त नहीं है। वह तो सीमित है। परिमित क्षेत्र में ही है। इसलिए लोक की सीमा बताने के लिए पुरुषाकृति उद्बोधक है। जिस तरह पुरुष खड़ा है। उतनी ही लोकाकाश की सीमा है। अर्थात् दोनों पैर के अन्तर के समान नीचे ज्यादा चौड़ा है। फिर ऊपर-ऊपर चढ़ते हुए अन्तर कम होता जाता है। कमर के भाग की तरह बिल्कुल कम है। फिर दोनों हाथ की स्थिति के अनुरूप पुनः थोड़ा चौड़ा होता जाता है। फिर पुनः संकड़ा होता जाता है। गले के भाग तक जाकर बिल्कुल संकड़ा होता है। ऊपर मस्तक के भाग की तरह है। इसीलिए पुरुषाकृति के आधार पर लोक पुरुष का नाम दिया जाता है। यही लोक है।

लोक पुरुष के अन्दर का भाग लोकाकाश कहलाता है और उसके बाहर का मात्र अलोकाकाश कहलाता है। अलोकाकाश सीमातीत अनन्त है। जबकि लोकाकाश सीमित परिमित है। इसे १४ रज्जु प्रमाण कहते हैं। रज्जु एक माप विशेष है। ऐसे नीचे से ऊपर तक १४ रज्जु प्रमाण यह लोक है। रज्जु राज को भी कहते हैं। १ रज्जु बराबर १ राजलोक ऐसे १४ राजलोक हैं। इसलिए १४ राजलोक प्रमाण इस विराट ब्रह्माण्ड को कहते हैं। इसी को लोकाकाश भी कहते हैं। लोक के

भीतरी आकाश प्रदेश को लोकाकाश कहते हैं। तथा लोक के बाहरी प्रदेश को अलोक या अलोकाकाश कहते हैं। चाहे लोक का आकाश हो या अलोक का आकाश, आकाशस्वरूप से दोनों समान ही है। दोनों विभाग में प्रसृत आकाश द्रव्य एक ही है। आकाश एक अखंड अविभाजित द्रव्य है। सिर्फ लोक-अलोक की उपाधि के कारण औपाधिक नाम लोकाकाश और अलोकाकाश पड़ा है। उदाहरणार्थ घटाकाश, मठाकाश यदि कहते हैं—अर्थात् एक घडे का भीतरी आकाश, एक मठ हो उसके अन्दर का आकाश। यह आकाश का उपाधि जनित नाम है। इससे अखण्ड आकाश के टुकड़े नहीं होते हैं। जैसे भारतीय आकाश, पाकिस्तानी आकाश। ये नाम जो रखे गए है क्षेत्र के आकाश के आधार पर है। परन्तु आकाश खडित नहीं होता है। उसी तरह लोकाकाश और अलोकाकाश भी एक अखंड आकाश के दो औपाधिक नाम मात्र है। परन्तु लोक और अलोक दोनों का आकाश एक अखण्ड आकाश ही है।

लोकाकाश का ही संक्षिप्त नाम लोक कहते हैं। यही १४ रज्जु प्रमाण होने से १४ राजलोक कहते हैं। इस लोकाकाश में तीन लोक हैं। जैसा कि १४ राजलोक का नक्शा पृष्ठ पर दिया गया है। तीन लोक में– (१) उर्ध्व लोक-जिसे देव लोक–स्वर्ग भी कहते हैं। (२) तिर्च्छालोक–तिर्यक् लोक और मृत्यु लोक या मनुष्य लोक भी कहते हैं। और तीसरा है अधो लोक। जिसे पाताल या नरक–लोक भी कहते हैं। इन्हीं तीनों लोकों में जीव राशि रहती है। अतः उनके नाम के आधार पर भी लोक का नाम पड़ा है। जैसे ऊपर स्वर्ग के देवी–देवता रहते हैं इसलिए देवलोक नाम रखा। मनुष्यों के रहने के कारण मनुष्य लोक नाम रखा। तिर्च्छा के कारण तिर्यक् लोक नाम भी प्रचलित है। नीचे अधो लोक में नरक के नारकी जीव रहते हैं अतः नरक भी कहा। इस तरह तीन लोक हैं। तीनों का सम्मिलित पूरा नाम १४ राजलोक है। समस्त जीव सृष्टि इसी १४ राजलोक में रहती है। इसके बाहर एक सूक्ष्म जीव भी नहीं है। इसी तरह अजीव द्रव्य भी इसी १४ राजलोक में है। इसके बाहर अर्थात् लोक के बाहर अजीव द्रव्य का एक परमाणु भी नहीं जो भी कुछ है वह सब कुछ इस लोक में ही अलोक में कुछ भी नहीं है। सिर्फ आकाश।

दो द्रव्य और पंचास्तिकाय

इस तरह लोक और अलोक दोनों में मिलाकर यदि द्रव्यों का विचार किया जाय तो सिर्फ दो ही द्रव्य मूलभूत द्रव्य है। दो के अलावा इस अनन्त ब्रह्माण्ड में

तीसरा कोई द्रव्य ही नहीं है। (१) जीव (२) अजीव अन्य सभी जो भी द्रव्य हैं व इन्हीं दो द्रव्यों के अन्तर्गत ही गिने हैं। परन्तु द्रव्य संख्या में मूलभूत दो ही गिने जाते है। अन्य इन्हीं के अवान्तर भेद है।

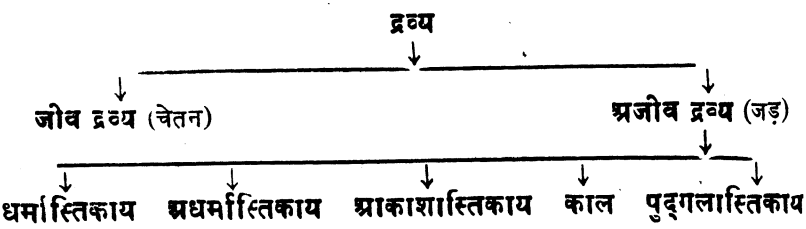

मुख्य दो द्रव्यों में जीव द्रव्य को ही चेतन नाम भी दिया गया है। इसी चेतन द्रव्य को आत्मा संज्ञा भी दी जाती है। अतः आत्मा, जीव, चेतन ये सभी समानार्थक पर्यायवाची नाम हैं। इससे भिन्न अजीव द्रव्य है। जिसे जड भी कहा है। यह अजीव द्रव्य जीव से सर्वथा पृथक भिन्न इसलिए है कि जीव के गुण-धर्म अजीव में नहीं है। जीव–चेतन द्रव्य में ज्ञान-दर्शनादि गुण है, सुख–दुःख की संवेदना अनुभव करने का गुण है। परन्तु अजीव द्रव्य में जानने और देखने की क्रिया करने वाले ज्ञान–दर्शन गुण नहीं है इसी तरह अजीव-जड द्रव्य में सुख-दुःख का अनुभव करने की संवेदना भी नहीं है। अतः अजीव द्रव्य जीव द्रव्य से सर्वथा भिन्न है। अ+जीव=जो जीव नहीं है वह अजीव। निर्जीव=निर्+जीव=जो जीव रहित है वह निर्जीव। द्रव्यों में भेद करता है। जीव के गुण भिन्न है। उसी तरह अजीव के गुण भी भिन्न है अतः दोनों स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए स्वतन्त्र द्रव्य है। हम समस्त संसार में यही प्रत्यक्ष देखते हैं। जब भी देखते हैं, जो भी देखते हैं उनमें इन्ही दो को ही देखते हैं। तीसरे द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है।

अजीव द्रव्य के पांच भेद है। (१) धर्म द्रव्य, (२) अधर्म द्रव्य, (३) आकाश द्रव्य, (४) काल द्रव्य, और (५) पुद्गल द्रव्य। धर्मादि नाम से भ्रम न हो अतः इनका नाम ध्यान में रखें। (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेश समूह। अस्तिकाय शब्द जोड़ने से ये द्रव्य अस्तिकायात्मक कहलाते हैं। इसी तरह जीव के साथ भी अस्तिकाय शब्द जोड़ने पर जीवास्तिकाय कहलाता है। प्रदेश समूहात्मक अस्तित्व रखने वाले ये कुल पांच हैं। अतः इन्हें पंचास्तिकाय कहते हैं। काल एक ही द्रव्य प्रदेश समूहात्मक नहीं हैं। अतः काल को अस्तिकाय नहीं कहते हैं अस्तिकाय वाले सभी द्रव्य इकट्ठे किये जाय तो ये पांच होते हैं। अतः पंचास्तिकाय कहते हैं। यदि काल को कहते हैं। यदि काल को साथ में जोडें और ये पांचों द्रव्य तथा काल मिलाकर कुल

छ द्रव्य होते हैं। अतः षड्द्रव्य कहते हैं षड्=अर्थात् छ। 'छ' यह संख्यावाची शब्द है। षड् द्रव्य कहने से छ द्रव्य कहने से छ द्रव्य लिए जाते हैं। पंचास्तिकाय से पांच अस्तिकाय वाले ही द्रव्य गिने जाते हैं। काल नहीं लिया जाता। इस तरह षड्द्रव्य कहो या पंचास्तिकाय कहो ये दोनों ही मूलभूत तो जीव-अजीव दो द्रव्यों में ही समाते हैं। जीव-अजीव दो द्रव्यों के ही भेद हैं। दो द्रव्यों का ही विस्तार हैं। अतः मूलभूत द्रव्य तो दो ही गिने जाएंगे। जीव और अजीव।

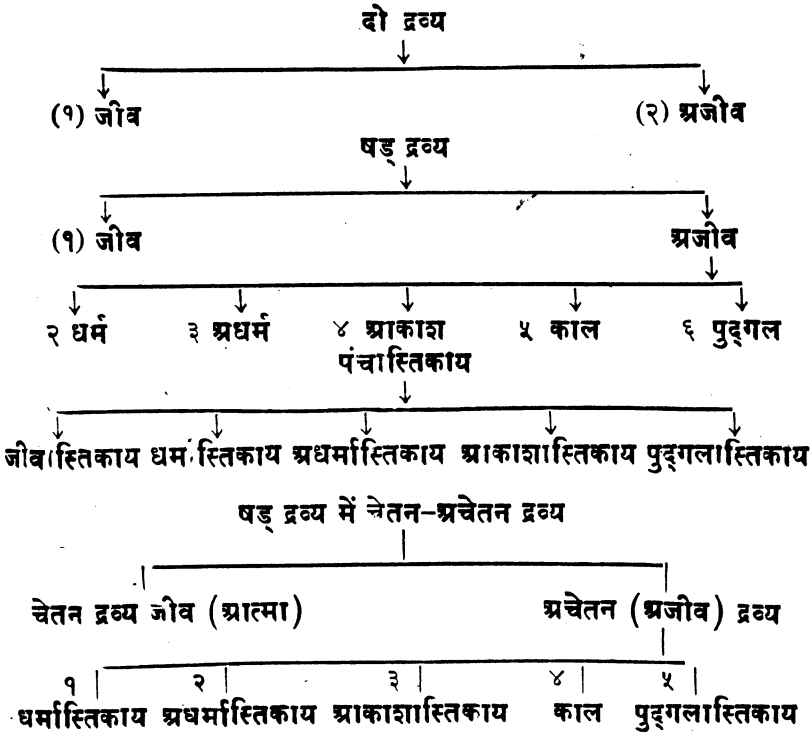

चेतन जीव एक ही चेतन द्रव्य है। इसी को आत्मा कहते हैं। सिर्फ नाम भेद--अर्थात् शब्द भेद है। अर्थ भेद नहीं है। इससे सर्वथा भिन्न अचेतन द्रव्य अजीव या जड़ द्रव्य कहलाता है। इसके पांच भेद है जो ऊपर चार्ट में दिखाए गए है। इस तरह चेतन एक और ये अचेतन पांच मिलाकर कुल षड् द्रव्य-छ द्रव्य हुए।

चेतन द्रव्यस्वरूप

"गुण-पर्यायवद्=द्रव्यम्" तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का यह सूत्र कहता है कि--

गुण और पर्याय वाला जो हो वह द्रव्य कहलाता है। अतः गुणपर्याय के समूह का नाम द्रव्य है। द्रव्य–गुण को छोड़कर अलग नहीं रहते हैं। गुण गुणी में ही रहते हैं। गुणी को ही द्रव्य कहते हैं। गुणोंवाला, गुणसमूह द्रव्य कहलाता है। उदाहरणार्थ सूर्य को छोड़कर सूर्य की किरणें या प्रकाश कहीं अन्यत्र नहीं रहती। भिन्न-भिन्न नहीं रहते। गुणों का आधार स्थान या आश्रयस्थान गुणी–द्रव्य ही है। पर्याय तो आकृति कहते हैं। मूलद्रव्य की आकृति––Shape जो होती है उसे पर्याय कहते हैं। उदाहरणार्थ सोना मूल द्रव्य है। सोनेरी रंग–पीलापन उसका मूल गुण है। और अंगूठी-कंगन-हार आदि सुवर्ण द्रव्य की पर्याय है आकृति विशेष है।

आत्मा भी एक द्रव्य है। ज्ञान–दर्शनादि आत्मा के मुख्य ८ गुण हैं।

(१) अनन्त ज्ञान गुण (२) अनन्त दर्शन गुण
(३) अनन्त चारित्र गुण (४) अनन्त वीर्य (शक्ति) गुण
(५) अनामी–अरूपी गुण (६) अगुरूलघु गुण
(७) अव्याबाध अनन्त सुख गुण (८) अक्षय स्थिति गुण

ये आठ गुण आत्मा के मूलभूत प्रमुख गुण है। तद्वान आत्मा अर्थात् इन गुणों वाली आत्मा अर्थात् इन गुणों वाला आत्मा द्रव्य है। ज्ञानदर्शनात्मक चेतना शक्तिवाली होने से आत्मा को ही चेतन द्रव्य भी कहते हैं। अरूपी आत्मा जब किसी आकृति विशेष वाले शरीर में रहती है तब वह आकृति उसकी पर्याय बनती है। उदाहरणार्थ उपरोक्त ८ गुणों वाली आत्मा मनुष्य–देव–नारकी, तिर्यंच पशु–पक्षी–हाथी–घोड़े के स्वरूप में है अतः ये आत्मा की पर्यायें कहलाएगी। ज्ञान गुण की क्रिया है—जानना, दर्शन गुण की क्रिया है देखना। ज्ञान—दर्शनात्मक चेतना शक्ति वाला द्रव्य ही जानने–देखने की प्रवृत्ति करता है। तद् भिन्न अजीव द्रव्य जानने–देखने की प्रवृत्ति नहीं करता। चूंकि उसमें ज्ञान–दर्शन गुण नहीं है। उसी तरह सुख–दुःख की संवेदना का अनुभव भी आत्मा ही करती है। यह आत्मा का ही गुण है। इससे भिन्न अजीव द्रव्य सुख–दुःख की संवेदना का अनुभव नहीं करता चूंकि सुखानुभव यह अजीव का गुण नहीं है। अतः जानना–देखना आदि जो क्रियाएं जगत में प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं अतः इन क्रियाओं का कर्ता कोई अवश्य होना ही चाहिए। क्रिया कर्ता के बिना सम्भव नहीं है। वह कर्ता जीव है, चेतन है। अजीव जानने–देखने की क्रिया का कर्ता नहीं चूंकि ज्ञान–दर्शनादि अजीव के गुण नहीं है। चेतन जीव अपने ज्ञानादि गुणानुरूप ही क्रिया कर सकता है यदि वह कर्मग्रस्त है तो उसकी

क्रिया आत्म गुणों के अनुरूप न होकर कर्मानुसार होगी। चेतन जीव द्रव्य कर्ता है। सक्रिय द्रव्य है। अतः इसे ही कर्म बन्ध को क्रिया का कर्ता कहा जाता है।

अजीव द्रव्यस्वरूप

जीव द्रव्य के ज्ञानादि गुण अजीव में नहीं है अतः यह अजीव द्रव्य कहलाता है। यह न तो जानता है न ही देखता है, नहीं रसास्वाद करता है नहीं श्रवणादि करता है। न ही सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। जीव के गुण इसमें न होने से जीव द्रव्य से सर्वथा भिन्न अजीव द्रव्य कहलाता है। अजीव स्वयं कर्ता भोक्ता नहीं है। अजीव के मुख्य भेद में जो धर्मास्तिकाय आदि हैं उनका मुख्य स्वरूप इस प्रकार है।

(१) धर्मास्तिकाय द्रव्य—यह गति सहायक द्रव्य है। जीव और पुद्गल परमाणु को चौदह राजलोक में गति करने में यह गति सहायक माध्यम धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। यह चौदह राज परिमित लोक व्यापी द्रव्य है। स्वयं निष्क्रिय, अरूपी असंख्य प्रदेशात्मक अस्तिकाय द्रव्य है।

(२) अधर्मास्तिकाय द्रव्य—यह स्थिति सहायक द्रव्य है। जीव एवं पुद्गल परमाणु जो गति करने वाले द्रव्य है उनको रूकने के लिए स्थिति में सहायक यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य है। यह भी लोक व्यापी अरूपी द्रव्य है। स्वयं निष्क्रिय है। जीवादि इसकी सहायता से स्थिति धारण करते हैं। असंख्य प्रदेशी अस्तिकाय युक्त द्रव्य है।

(३) आकाशास्तिकाय द्रव्य—लोकालोक व्यापी यह अनन्त आकाश द्रव्य है। जीव-पुद्गल-आदि द्रव्यों को रहने के लिए जगह देने वाला, अवकाश प्रदान करने वाला यह आकाशास्तिकाय द्रव्य है। यह भी सप्रदेशी होने से अस्तिकाय युक्त अरूपी द्रव्य कहलाता है। यह सभी अन्य द्रव्यों के लिए आधारभूत द्रव्य हैं। हम सब इसी में रहते हैं।

(४) काल—यह अजीव द्रव्य है। **"वर्तनालक्षणो कालः"** वर्तना अर्थात्—परिवर्तन। नया-पुराना, आज का-कल का इत्यादि परिवर्तन कालानुसार होता है। यह अप्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं गिना जाता।

(५) पूद्गलास्तिकाय द्रव्य—पूरण-गलन स्वभाव वाला यह पुद्गल द्रव्य है। अर्थात् बनने-बिगड़ने के स्वभाव वाले को पुद्गल द्रव्य कहते हैं। यह प्रदेश-समूहात्मक होने से सप्रदेशी अस्तिकाय द्रव्य है। स्कंध-देश-प्रदेश और परमाणु इसकी ४ अवस्थाएं है। अणु-परमाणु सिर्फ पुद्गल के ही विभाग में गिने जाते हैं। **"वर्ण-गध-रस-स्पर्शात्मको पुद्गलः"** जो वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि गुण वाला हो उसे पुद्गल कहते हैं। अतः जगत की सभी वर्णादि गुण वाली वस्तुए पौद्गलिक कहलाती है। यह भी चौदह राजलोकव्यापी द्रव्य है।

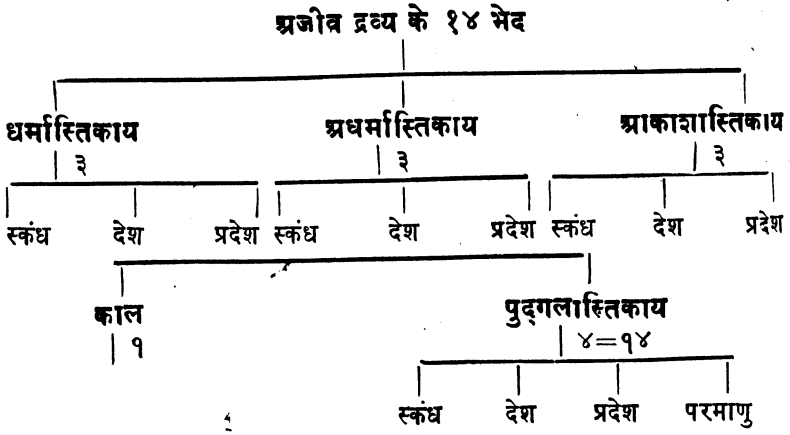

एक अखण्ड द्रव्य स्कंध कहलाता हैं। उसी स्कंध का अविभाजित अल्प भाग, छोटा भाग देश कहलाता है। तथा उसी स्कंध और देश का अविभाजित एक छोटा सूक्ष्मांश प्रदेश कहलाता है। तथा वही सूक्ष्मतम अंश प्रदेश जो स्कंध देश से अलग हो जाता है वह परमाणु कहलाता है। धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों सर्वलोक व्यापी अखण्ड स्कंध द्रव्य हैं। अखंख्य प्रदेशी है।

परन्तु इनका एक भी प्रदेश अलग नहीं होता है। अतः इनमें परमाणु का भेद नहीं पड़ता है।

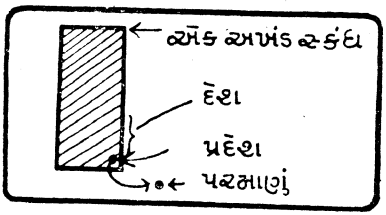

पुद्गल के चार भेद है। (१) स्कंध है। कोई भी पौद्गलिक एक अखण्ड वस्तु स्कंध कहलाती है। चाहे वह छोटी हो या बड़ी हो परन्तु एक अखण्ड होनी चाहिए। (२) उसी का अविभाजित छोटा भाग देश कहलाता है। (३) उसी का एक सूक्ष्मतम अंश जो अविभाजित हो, स्कंध से अलग न हुआ हो वह प्रदेश कहलाता है। (४) वही सूक्ष्मतम अदृश्य प्रदेश स्कंध से अलग हो जाय, विभक्त हो जाय वह स्वतंत्र रूप से अणु कहलाता है। जैन दर्शन में अणु को ही परमाणु कहते हैं। अणु-परमाणु में कोई भेद नहीं है।

परमाणु का स्वरूप

स्कंध के देश का सूक्ष्मतम प्रदेश जो स्कंध से विभाजित होकर अलग हो गया है अब वह स्वतन्त्र रूप से स्वयं अविभाजित हो वह परमाणु कहलाता है। परमाणु अछेद्य-अभेद्य-अदृश्य-अकाट्य-अदाह्य होते हैं। जिनको छेदन करने से छेद नहीं सकते वे अछेद्य, भेदन करने पर भेद नहीं सकते वह अभेद्य, आंखों से जो दिखाई नहीं देते वह अदृश्य तथा जो जलते भी नहीं वे अदाह्य परमाणु होते हैं। साथ ही Undivideble अविभाज्य होते हैं। विज्ञान ने अणु को एक स्वतन्त्र सूक्ष्मतम इकाई माना है। पहले अणु को अविभाजित मानते थे अब विभाज्य मानते हैं। विस्फोट करते हैं। एक परमाणु के साथ इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन और अब पोजिट्रोन को संयुक्त रूप से माना है। अतः ऐसा लगता है कि यह परमाणु के बजाय स्कंध हो गया। परमाणु तो एक अणु ही होता है। जब वह द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुर्णुक आदि अधिक संख्या में यदि दो-तीन-चार-पांच अणु मिलते तब वे अणु-अणु नहीं रहते पुनः स्कंध का रूप धारण कर लेते हैं। संघात-विघात की क्रिया से ही पुद-

गल में परिवर्तन होता है। संघात से परमाणु जुडकर पुनः स्कंध बन जाते है। उसी तरह विघात की प्रक्रिया से ये ही स्कंध परमाणु रूप बन जाता है। मिट्टी के परमाणु असंख्य-अनन्त की संख्या में इकट्ठे हुए वे एक होकर एक घड़ा बन गया। अब वह एक स्कंध कहलाएगा। एक दिन घडा फुट गया और पुनः मिट्टी के कण-कण में विभाजित हो गया। उस मिट्टी का एक सूक्ष्मतम अविभाजित अंश परमाणु कहलाएगा। इस तरह संसार में संघात-विघात की क्रियाएं सतत् चलती रहती है। अतः अणु स्कंध में और स्कंध पुनः अणु रूप में सतत् परिवर्तित होते ही रहते हैं। परमश्चासौ अणुः परमाणुः। जो परम सूक्ष्म अणु है वही परमाणु है। उसे ही अणु कहते हैं। अणु शब्द के आगे ही परम विशेषण लगा दिया है। अर्थ की दृष्टि से अणु और परमाणु दोनों शब्द समानार्थक है। अर्थ भेद नहीं है। ये परमाणु पुद्गल द्रव्य के ही सूक्ष्मतम अंश है। स्कंध-देश-प्रदेश-परमाणु ये चारों अवस्था पुद्गल की ही है अतः परमाणुओं में भी पुद्गल के गुणधर्म मौजूद रहते हैं। वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-शब्द आदि जो पुद्गल के गुण धर्म हैं वे परमाणु में रहते हैं। एक परमाणु में १ वर्ण, १ गंध- १ रस- २ स्पर्श इतना तो रहता ही है। पांच वर्णों में से कोई १ वर्ण, २ गंध में से कोई एक गंध, पांच रसों में से कोई १ रस और ८ स्पर्श में से कोई २ रस। या तो शीत या उष्ण, अथवा या तो स्निग्ध या रूक्ष, अथवा गुरू (भारी) या लघु (हल्का) इस तरह परमाणु में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-ध्वनि आदि गुणधर्म रहते ही हैं। तभी परमाणु के स्कंध बनने से उसमें प्रगट होते हैं। यदि रेती के एक-एक

स्कंध	देश	प्रदेश	परमाणु
			•

कण में भी तेल नहीं होता है। अतः उस रेती के लाखों कण यदि घानी में पीले भी जाय तो तेल नहीं निकलेगा। जबकि सरसव, राई के एक एक दाने में तेल होता है अतः उनके समुदाय में से भी तेल निकलता है। उसी तरह परमाणु में ही तथा प्रकार के वर्ण–गंध–रस–स्पर्शादि गुणधर्म भरे पड़े हैं अतः वे ही संघात प्रक्रिया के बाद स्कंध में प्रगट होते हैं।

पुद्गल के लक्षण–

सद्दंधयार उज्जोअ, पभा छायाऽऽ तवेहिय।
वण्ण-गंध-रसा-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं॥

नवतत्त्व प्रकरण के इस श्लोक में शब्द, अंन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप तथा वर्ण–गंध–रस–स्पर्शादि ये सभी पुद्गल के लक्षण हैं। अतः शब्दादि ये सभी पौद्लिक हैं।

शब्द– किसी भी प्रकार की ध्वनि–शब्द ये पौद्गलिक हैं। सचित्त–अचित्त–एवं मिश्र इस तरह ३ प्रकार की ध्वनि होती है। नैयायिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है यह न्याययुक्त नहीं है। रेडियो, टी.वी. टेलीफोन के माध्यम से शब्द पकड़े जाते हैं अतः पौद्गलिक है।

उद्योत–अर्थात् शीत (ठंडा) प्रकाश। चंद्र तथा चंद्रकान्तमणि आदि शीतल वस्तुओं का शीतल प्रकाश यह उद्योत भी पौद्गलिक है।

छाया– प्रतिबिंब को छाया कहते हैं। आज छायाचित्र बनते हैं। प्रकाश का अवरोध करके पड़ने वाली छाया भी पौद्गलिक हैं।

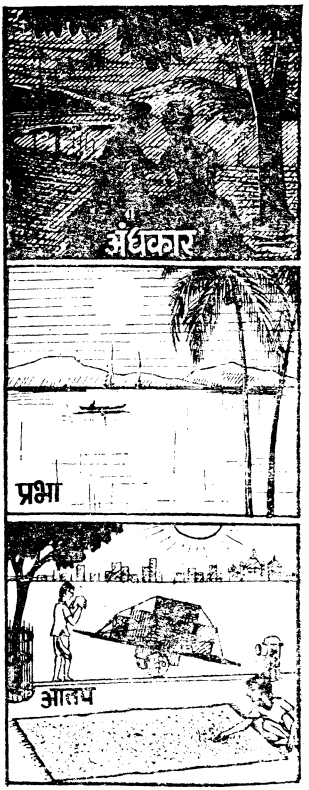

अन्धकार— अन्धेरा, रात्रि का अन्धेरा या जहां प्रकाश नहीं पहुँचता ऐसे तलघर का अन्धेरा आदि। अन्धेरा-अन्धकार जो दिखाई देता है यह भी पौद्गलिक है। नैयायिकों की तरह तेज का अभाव तम नहीं है। यह अन्धेरा भी स्वतन्त्र पुद्गल परिणाम विशेष है।

प्रभा- सूर्योदय के पूर्व अरूणोदय का प्रकाश पौफटन के पूर्व का प्रत्यूप प्रकाश जबकि किरणें नहीं निकली है वह प्रकाश प्रभा कहलाता है। या मकान में धूप न आती है वह उप प्रकाश भी प्रभा है। तथा रत्नकांति, तेज आदि पौद्गलिक प्रभा है।

आतप- सूर्य की सीधी धूप को आतप कहते हैं। अथवा सूर्यकांत मणि एवं सूर्य के उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं।

वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि-

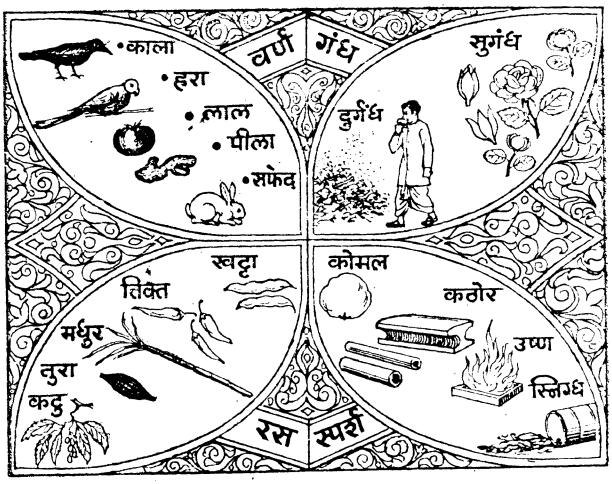

इस चित्र में वर्ण गंध-रस-स्पर्शादि बताए गए हैं। काला-हरा-लाल-पीला-सफेद ये पांच प्रकार के वर्ण होते हैं। सुगन्ध तथा दुर्गन्ध २ गंध हैं। खट्टा-तिखा-मीठा-तुरा एवं कडवा ये पांच प्रकार के रस हैं। तथा-शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, लघु गुरू अर्थात् हल्का-भारी, तथा मृदु-कर्कश ये ८ प्रकार के स्पर्श हैं। अजीव तत्त्व के पुद्गल विभाग का यह विवेचन किया है। चूंकि कर्म भी पौद्गलिक है पुद्गल परमाणुओं से जन्य है। अतः कर्म की पौद्गलिकता को समझने के लिए पुद्गल को पहचानना जरूरी है इसलिए पुद्गल का स्पष्ट विवेचन किया है। पुद्गल एक स्वतन्त्र द्रव्य है। यह जीव नहीं सजीव नहीं अजीव द्रव्य है, इतना ख्याल आना जरूरी है चेतन आत्मा ही एक मात्र जीव द्रव्य है। जबकि अन्य सभी अजीव द्रव्य है। अजीव द्रव्य के ५ भेदों में पांचवा भेद जो पुद्गल का है उसका क्या लक्षण हैं? तथा क्या गुण धर्म है यह विवेचन यहां पर किया है। इससे पुद्गल का स्वरूप स्पष्ट समझ में आजाय यह जरूरी है। समस्त संसार की अनन्त जड़ वस्तुएं सभी पौद्गलिक है। जो भी आंखों से दिखाई देती है ऐसी किसी न किसी प्रकार के वर्ण-गंध-स्पर्शादि वाली वस्तुएं पौद्गलिक हैं। पुद्गल जन्य पदार्थ दृश्यमान जगत सब पौद्गलिक है। यहां तक की हमारा शरीर भी पौद्गलिक है। वह भी पुद्गल से बना है। तथा आत्मा पर लगते कर्म भी पौद्गलिक है। ये शरीर तथा कर्मादि किस तरह पौद्गलिक है? किन पुद्गल परमाणुओं से बनते हैं? क्या इनके घटक द्रव्य है? इसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

परमाणु वर्गणा स्वरूप

जैन शास्त्र में जिसे पुद्गल कहा है उसे ही आधुनिक विज्ञान ने MATTER पदार्थ कहा है। पुद्गल यह जैन शास्त्रों द्वारा ही प्रयुक्त एक विशेष अर्थवाला शब्द है। इस शब्द का प्रयोग जैन शास्त्र बाह्य नहीं मिलता। पुद्गल की ४ अवस्था में जिसे स्कंध कहा जाता है उसे विज्ञान Molecule कहता है। और परमाणु को Atom कहा है। यह समस्त ब्रह्माण्ड अनन्तानन्त परमाणुओं से भरा हुआ है। पुद्गल द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व दो स्वरूप में है। एक परमाणु स्वरूप और दूसरा स्कंध स्वरूप है। महा समर्थ ज्ञानी की ज्ञानधारा में भी जिसके दो भाग संभव नहीं है ऐसा निर्विभाज्य सूक्ष्मतम पुद्गल का अणु ही परमाणु स्वरूप में कहलाता है। यही परमाणु २-४-६ आदि अधिक संख्या में एकत्रित हुए हों तो उन्हें स्कंध कहा जाएगा। फिर वे द्वयणुकस्कंध, त्र्यणुकस्कंध, चतुर्णुस्कंध, पंचाणुकस्कंध आदि एक एक अणु की वृद्धि के आकार पर वे उतने परमाणुओं के बने हुए स्कंध कहलाएगे।

संस्थान अणुओं का स्कंध संख्याताणुकस्कंध एवं असंख्याताणुकस्कंध कहे जाएंगे। उसी तरह अनन्त अणुओं से बने हुए स्कंध पुद्गल पदार्थ को अनन्ताणुकस्कंध पदार्थ कहेंगे। इन परमाणुओं में संघट्टन (संघात)-विघट्टन (विघात) की क्रिया सदा ही होती रहती है। अतः संघट्टन की क्रिया से कई परमाणु संमिश्रित होकर स्कंध तूट-कर पुनः परमाणु स्वरूप में आकर स्वतन्त्र रहते हैं। इस तरह जुडना ओर बिखरना यह पुद्गल का स्वभाव ही है। यहां जैनों ने परमाणु की संघट्टन-विघट्टन आदि क्रिया में नैयायिकों की तरह ईश्वरेच्छा मानने की मूर्खता नहीं की है। जबकि पुद्-गल का अपना स्वभाव ही है, उसी की क्रिया है फिर ईश्वरेच्छा मानने की आवश्य-कता ही क्या है?

परमाणु और स्कंध रूप अस्तित्व वाले पुद्गल पदार्थ का भिन्न-भिन्न रूप से जैन दर्शन शास्त्र में वर्गीकरण-विभाजन किया गया है। अनेक परमाणु संमिश्रित-सम्मिलित होकर समूह रूप में पिण्डीत रूप में रहे उसे स्कंध कहते हैं। समान सख्या प्रमाण परमाणु वाले स्कंधों की एक वर्गणा बनती हैं वर्गणा अर्थात् अनेक परमाणुओं के समूह विशेष को महावर्गणा कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड में ऐसी १६ महावर्गणाएं है यह जैन शास्त्रों में बताया गया हैं।

(१) औदारिक अग्रहण योग्य महावर्गणा।

(२) औदारिक ग्रहण योग्य महावर्गणा।

(३) औदारिक तथा वैक्रिय शरीर के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।

(४) वैक्रिय शरीर के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।

(५) वैक्रिय तथा आहारक शरीर के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।

(६) आहारक शरीर के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।

(७) आहारक तथा तैजस शरीर के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।

(८) तैजस शरीर के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।

(९) तैजस शरीर और भाषा के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।

(१०) भाषा के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।

(११) भाषा और श्वासोच्छवास के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।

(१२) श्वासोच्छवास के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।

(१३) श्वासोच्छवास और मन के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।

(१४) मन के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा ।

(१५) मन और कर्म के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा ।

(१६) कर्म के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा ।

इस तरह ये १६ महावर्गणाएं है । इनमें ग्रहण योग्य वर्गणाएं आठ प्रकार की है । तथा अग्रहण योग्य वर्गणाएं भी आठ प्रकार की है । इसीलिए ८+८=१६ बताई गई है । इनमें ८ ग्रहण योग्य वर्गणाओं का विशेष विचार करें । चौदह राज-लोक परिमित इस लोक में सर्वत्र प्रसरी हुई अर्थात् काजल की डिब्बी में ठूंसकर भरी हो इस तरह इस ब्रह्माण्ड में ये वर्गणाएं ठूंस-ठूंस कर भरी हुई है । एक सूंई प्रवेश करा सकें इतनी भी जगह अनन्त ब्रह्माण्ड में भी खाली नहीं है । ऐसी प्रमुख ८ वर्गणा का चित्र इस प्रकार है ।

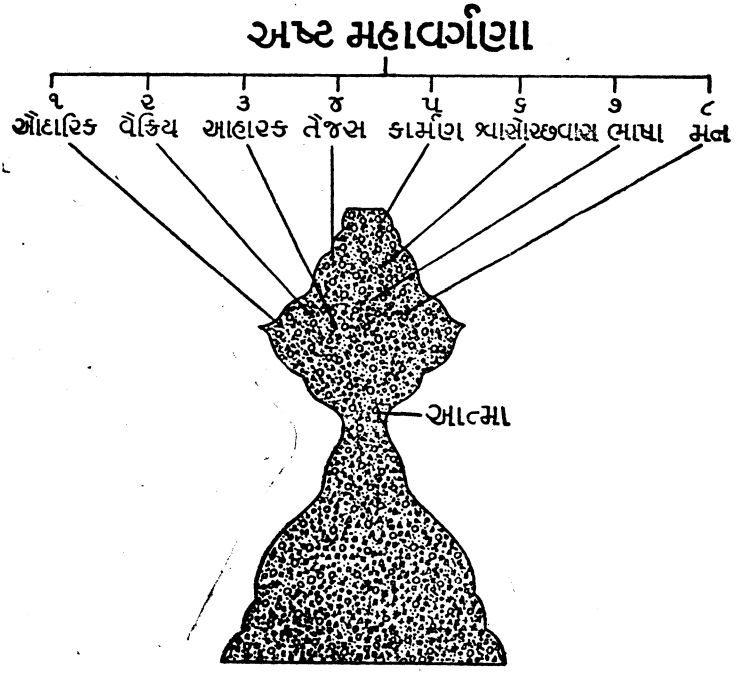

(शुद्धिकरण→कृपया चित्र में ५वें क्रम पर मन तथा ८वें क्रम पर कार्मण समझें)

वर्गणाओं का कार्यक्षेत्र

चित्र में दर्शाएं अनुसार समस्त लोक में ठूंस-ठूंस कर भरी हुई ये पुद्गल

परमाणुओं के संमिश्रित समूह रूप है। इसी लोक में अनन्त जीव भी रहते हैं। वर्गणाएं जीवों के लिए उपयोगी है। शरीर भाषा-मन-आदि बनाने में काम आती है। आत्मा इन्हीं युद्गल परमाणुओं को खिचकर उनका पिण्ड बनाकर शरीर भाष-मन-कर्मादि बनाती है। अतः ये Raw Material के रूप में वर्गणाएं जीवों के शरीरादि निर्माण में उपयोगी है। सभी भिन्न-गुणधर्म वाली है। अतः भिन्न भिन्न कार्य के उपयोग में आती है—

(१) **औदारिक वर्गणा**—मनुष्यों तथा तिर्यंच गति के पशु-पक्षियों के लिए औदारिक शरीर बनाने योग्य ऐसे पुद्गल परमाणुओं के समूह को औदारिक वर्गणा कहते हैं। इसी से हमारा शरीर बनता है अतः औदारिक शरीर कहलाता है।

(२) **वैक्रिय वर्गणा**—स्वर्ग के देवताओं का तथा नरक गति के नारकी जीवों का शरीर वैक्रिय शरीर है। अतः उन्हें उनका वैक्रिय शरीर बनाने के लिए बाह्य वातावरण में से जो उस योग्य पुद्गल परमाणुओं का समूह ग्रहण करना पड़ता है वह वैक्रिय पुद्गल परमाणु वर्गणा कहलाती है।

(३) **आहारक वर्गणा**—१४ पूर्वधारी मुनिराज महाविदेह आदि क्षेत्रों में तीर्थंकर के पास प्रश्न पूछने जाते समय आहारक शरीर की रचना करते हैं। तद् योग्य पुद्गल परमाणुओं को आहारक वर्गणा कहते हैं। इसी को ग्रहण कर वे आहारक शरीर बनाते है।

(४) **तैजस वर्गणा**—आत्मा के साथ रहे हुए सूक्ष्म तैजस शरीर बनाने योग्य वर्गणा को तैजस वर्गणा कहते हैं।

(५) **श्वासोच्छ्वास वर्गणा**—संसारस्थ सभी जीव श्वासोच्छ्वास लेते ही है। अतः श्वासोच्छ्वास लेने योग्य पुद्गल परमाणुओं को श्वासोच्छ्वास वर्गणा कहते हैं। जीव यही ग्रहण करता है।

(६) **भाषा वर्गणा**—वचन योग वाले जो व्यक्त-अव्यक्त भाषा बोलते हैं उन जीवों को बोलने के लिए भाषा वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की आवश्यकता पड़ती है। इसे ग्रहण करके ही जीव बोल सकते है। अतः बोलने योग्य ग्रहण करने के लिए भाषा वर्गणा है।

(७) **मन वर्गणा**—संज्ञी समनस्क पंचेन्द्रिय सभी जीव विचार करते हैं।

सोचने की क्रिया करने के लिए–विचारने के लिए जीव बाहरी वातावरण में से मनो वर्गणा को खिचकर उसका पिण्ड बनाता है। उसे हम मन कहते हैं। अतः मन आत्मा नहीं है। मन आत्मा से भिन्न पौद्गलिक पिण्ड है। अजीव है।

(८) **कार्मण वर्गणा**—जीव राग–द्वेष–कषायादि के आधीन होकर आश्रव मार्ग में स्थित होकर बाहरी वातावरण में से कर्म योग्य कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के समूह को खिचता है। ग्रहण करता है उसे कार्मण वर्गणा कहते है। यही कार्मण वर्गणा कर्म रूप में परिणमन होती है। अर्थात् कार्मण वर्गणा का ही कर्म बनता है। कर्म बनाने योग्य पुद्गल परमाणुओं के समूह को कार्मण वर्गणा कहते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म पौद्गलिक है। जड़ है। आत्मा पर बाहरी आवरण विशेष है। सूक्ष्मतम होने के कारण अदृश्य है।

यह १६ महावर्गणाओं में ग्रहण योग्य अष्ट महावर्गणाओं का स्वरूप है। क्रमशः इनमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म–सूक्ष्म होती जाती है। वैसे सभी सूक्ष्म हैं। परन्तु पहलो से दूसरी ज्यादा सूक्ष्म है। दूसरी से तीसरी और भी ज्यादा सूक्ष्म है। उसी तरह अन्तिम कार्मण वर्गणा सबसे ज्यादा सूक्ष्मतम है। अतः अत्यन्त सूक्ष्मतम होने से दृश्य नहीं है। उदाहरणार्थ जैसे समझीए—गेहूं का आटा कितना बारीक है। उससे भी उसका चापट कैसा स्थूल है। तथा गेहूं का मैदा कितना ज्यादा बारीक है। उसी तरह इन वर्गणाओं में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर का भेद है। इनमें सबसे ज्यादा अन्तिम कक्षा की सूक्ष्मता कार्मण वर्गणा में है। संसारस्थ जीव संसार में पुद्गल के आधार पर रहता है। अतः जीव के रहने के लिए जिस पर (शरीर) की आवश्यकता पड़ती है उसे निर्माण करने के लिए लोक में रही औदारिक आदि शरीर योग्य वर्गणा के समूह को ग्रहणकर जीव शरीर बनाता है। उसी तरह श्वासोच्छवास वर्गणा ग्रहण कर श्वासोच्छवास लेता है। उसी तरह भाषा वर्गणा के पुद्गल–परमाणुओं को ग्रहण कर जीव बोलता है। भाषाकीय वचन व्यवहार करता है। उसी तरह विचार करने के लिए मनोवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर मन बनाता है। तभी जीव सोच सकता है। विचार कर सकता है। अन्त में संसार में परिभ्रमण करने हेतु–एक गति से दूसरी गति–जाति आदि में जाने एवं जन्म–मरणादि धारण करते हुए ८४ लक्ष जीव योनियों के चक्कर में चारों गति में घूमने के कारणभूत कर्म बनाने के लिए जीव कार्मण वर्गणा ग्रहण करता है। उसी कार्मण वगणा के पुद्गल परमाणुओं का बनाया हुआ पिण्ड ही कर्म कहलाता है। जब तक कार्मण वर्गणा आत्मा से नहीं मिली है अर्थात् आत्म प्रदेशों में कार्मण वर्गणा का प्रवेश

नहीं हुआ है वहां तक वे कर्म नहीं कहलाते हैं। जब जीव कार्मण वर्गणा ग्रहण कर उसे कर्म पिण्ड रूप बनाता है तभी वह कर्म कहलाता है।

असंख्य प्रदेशी आत्मा

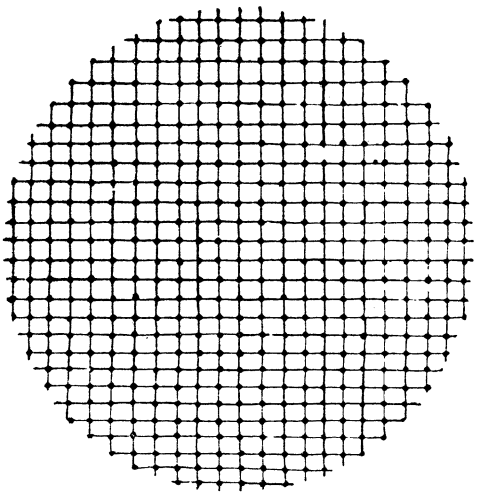

जैसे एक कपडे में तन्तु से बना धागा खडी और आडी दो पंक्तियों में लगा रहता है। उन दोनों धागों के क्रोस पोइन्ट होते हैं। उसी तरह आत्मा एक द्रव्य है। उसमें असंख्य प्रदेश होते हैं। अतः यह असंख्य प्रदेशी एक अखंड द्रव्य है। इन्हीं असंख्य प्रदेशों पर बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा चिपकती है। परन्तु इन असंख्य प्रदेशों में केन्द्र के आठ रुचक प्रदेश ऐसे हैं जिन पर कदापि कोई कार्मण वर्गणा नहीं चिपकती। ये आठ रुचक प्रदेश सदा के लिए कर्म से अछूते ही रहते हैं। शुद्ध मूलभूत स्वरूप में रहते हैं। इनका स्वरूप कभी भी बदलता नहीं है। आत्मा के आठ मूल गुणों को व्यक्त स्वरूप में प्रगट रखने वाले ये आठ रूचक प्रदेश हैं। असंख्य में ये सिर्फ आठ ही ऐसे हैं। अन्य असंख्य प्रदेशों पर कार्मण वर्गणा लगती है। आत्मा इन असंख्य प्रदेशों का समूह स्वरूप एक अखण्ड द्रव्य है। यह आत्मा की रचना का स्वरूप है। कभी भी एक प्रदेश भी खण्डित होकर अलग नहीं होता है। चाहे अकस्मात में अंग कट भी जाय तो भी कटे हुए अंग में रहे आत्म प्रदेश पुनः मूल शरीरी आत्मा में आ जाते हैं। परन्तु कट कर अलग नहीं हो जाते। चाहे कितना भी छेदन-भेदन-विदारण-काटना आदि नरक में या कतलखाने में कहीं भी हो परन्तु आत्मा कटती नहीं हैं। खण्डित नहीं होती, विभाजित नहीं होती। सदा ही अखण्ड स्वरूप में रहती है। संकोच-विकासशील स्वभाव वाली आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों का अत्यन्त संकूचन करके एक छोटे से छोटे या सूक्ष्म शरीर में भी समा कर रह जाती है। उसी तरह जब बड़ा स्थूल विशाल शरीर मिलता है तब फैलकर उसमें रहती है। तब आत्मा अपने आत्म प्रदेशों को फैला देती है। पक्षी के

पंख जिस तरह फैलने पर लम्बे दिखाई देते हैं। और सिकोडने पर छोटे हो जाते हैं। समेट कर बन्द कर लेता है। मोर अपने पंख फैलाता है तब कितना क्षेत्र रोकता है और समेट लेता है तब कितनी जगह घेरता है। दूसरा भी एक दृष्टांत है जब एक बल्ब को हॉल में लगाते हैं तो उसका प्रकाश पूरे हॉल में फैलता है। उसे ही यदि १०'×१०' की रूम में लगा दें तो प्रकाश रूम के क्षेत्र में ही फैलेगा। उसी तरह यदि उस बल्ब को एक छोटे बक्से में रखकर प्रज्वलित किया जाय तो प्रकाश सिर्फ उस बक्से में ही फैलेगा। प्रकाश के विस्तार का आधार क्षेत्र पर है। उसी तरह आत्मा के असंख्य प्रदेशों के विस्तार का आधार मिले हुए शरीर पर आधारित हैं। केवलि समुद्घात आदि करते समय आत्मा आत्म प्रदेशों को फैलाकर चौदह राजलोक व्यापी बना देती है। इतना विस्तार कर सकती है।

अनन्त काल में अनन्त कार्मण वर्गणाएं खिचकर अनन्त बार जीव ने कर्म बांधे और अनन्त बार सकाम या अकाम निर्जरा करके कर्म खपाए। वे ही कार्मण वर्गणाएं निर्जरित होते समय आत्म प्रदेशों को छोड़कर जाते समय एक आत्म प्रदेश को भी खिचकर नहीं ले जा सकते। अतः अनन्त काल में भी आत्मा का एक प्रदेश भी छूटकर अलग नहीं होता। इसीलिए आत्मा एक अखण्ड असंख्य प्रदेशी द्रव्य है।

कार्मण वर्गणा का ग्रहण

कर्तृत्व–भोक्तृत्व भाव जीव का गुण है अतः जीव ही कर्ता–भोक्ता कहलाता है। आत्मा में ही राग-द्वेषादि के द्वारा तथा प्रकार के स्पंदन होते हैं जिससे बाहरी प्रदेश में रही हुई कार्मण वर्गणा को आत्मा खिचती है। समस्त चौदह राजलोक के इस अनन्त ब्रह्माण्ड में कर्म योग्य कार्मण वर्गणा जो पुद्गल परमाणु के रूप में भरी पड़ी हैं। काजल की डिब्बी में भरी हुई काजल की तरह ठूंस ठूंस कर भरी पड़ी है। उसी कार्मण वर्गणा

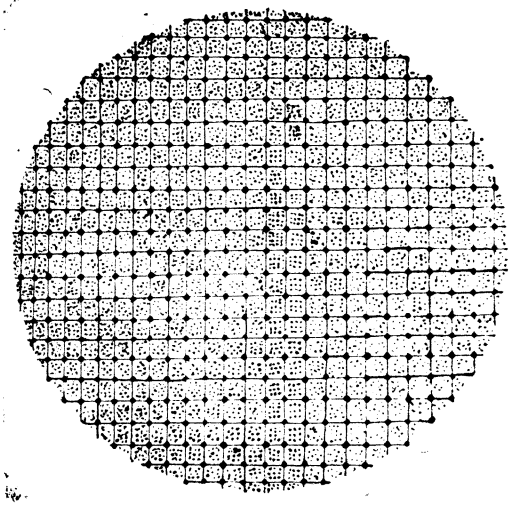

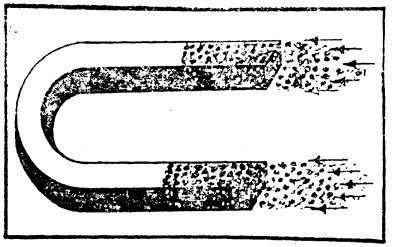

को जीव खिचता है। यह जीव की ही क्रिया है। राग-द्वेषासक्त जीव में ऐसे स्पंदन पैदा होते हैं और वे कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को खिचकर आत्मसात करते हैं। उदाहरणार्थ शान्त सरोवर के स्थिर जल में यदि एक कंकड डाला जाय तो पानी की शांति एवं स्थिरता भंग हो जाती है और पानी में वमल-उत्पन्न हो जाते हैं। वे गोल वलय के रूप में फैलते-फैलते किनारे तक जाते हैं। वहां की रजकण को स्पर्श करके उसे अपने में खिच लेते हैं। उसी तरह आत्मप्रदेशों में हुए राग-द्वेष जन्य स्पंदन के कारण आत्मा बाहरी प्रदेश की कार्मण वर्गणा खिच लेती है। आकर्षण का यह गुण और क्रिया आत्मा के गुण और क्रिया के रूप में हैं। दूसरा दृष्टांत हम लोह चुम्बक का लें चुम्बक में चुम्बकीय शक्ति पड़ी है। जिसके कारण चुम्बक स्वयं ही बाहरी लोहे के कणों को खिचता है। बाहरी लोह कण आकर चुम्बक के साथ चिपक जाते हैं। यह चुम्बक की अपनी आकर्षण शक्ति से ही हुआ है। ठीक इसी तरह कर्तृत्व शक्ति सम्पन्न आत्मा सक्रिय द्रव्य है। कर्म के बीज भूत मूल कारण जो राग-द्वेषादि है उनके कारण आत्मा में हुए स्पन्दनों से आत्मा में कार्मण वर्गणाएं खिचकर आती है। आकर्षित होती है। बार-बार की इस क्रिया से असंख्य कार्मण वर्गणाओं का आगमन आत्मा में होता है। ये धिरे-धिरे आत्म प्रदेशों पर जम जाती है।

आश्रव मार्ग से कार्मण वर्गणा का आगमन

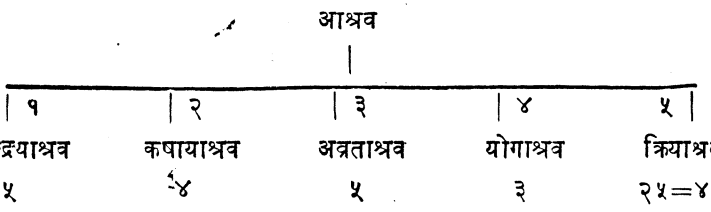

आश्रव—आ+श्रव=आश्रव अर्थात् आगमन। आना। आत्मा में बाहर से कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के आने की क्रिया को आश्रव कहते हैं। नौं तत्त्वों में आश्रव को भी एक तत्त्व गिना गया है। आश्रव के मुख्य पांच द्वार कहे गये हैं। जिन माध्यमों से या जिस क्रिया से आत्मा में कार्मण वर्गणा आती है वे आश्रव द्वार

है। (१) इन्द्रियाश्रव, २) कषायाश्रव, (३) अव्रताश्रव, (४) योगाश्रव और (५) क्रियाश्रव ये मुख्य पांच द्वार है। इन प्रवृत्तियों में रहा हुआ जीव कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को अपने में आने देता है। यह क्रिया जीव की ही है। उदाहरणार्थ सोचिए चारों तरफ पहाड़ियों से घिरे सरोवर में जैसे पहाड़ों से बहते झरने के माध्यम से पानी आता है। नदी के माध्यम से पानी आता है और बीच का सरोवर भरता जाता है। दूसरा उदाहरण है--जैसे सरोवर के पानी के बीच तैरती हुई एक नौका में नीचे छिद्र पड़ गया। नौका काष्ठ-लकड़े की है। लकड़े का पानी

पर तैरने का स्वभाव है। परन्तु नौका में छिद्र पड़ने से पानी नौका में आता जा रहा है। पानी यदि भरता ही गया, नौका में बढ़ता ही गया तो थोड़ी देर में नौका के डूबने की संभावना खड़ी हो जाएगी। ठीक इसी तरह आत्मा कर्म के अभाव में हल्की है। परन्तु राग-द्वेष के छिद्र के माध्यम से बाहरी आकाश प्रदेश से कार्मण वर्गणा आत्मा में प्रवेश कर रही है। नौका में तो एक ही छिद्र था परन्तु आत्मा में कार्मण वर्गणां के आने के पांच द्वार मुख्य है। इन्द्रियाश्रव आदि पांचों प्रवेश द्वारों से कार्मण वर्गणा का आश्रव आत्मा में हो रहा है। सोचिए चेतन आत्मा में जड़-पुद्गल परमाणुओं को आश्रव से आत्मा पर भार बढ़ता ही जाएगा। पुद्गल पदार्थ में तो वजन रहता ही है। जबकि आत्मा तो वजन रहित अगुरूलघु गुणवाली है। परन्तु कार्मण वर्गणा के भार से आत्मा भारी होकर नौका की तरह डूबती जाएगी। इन्द्रियाश्रव आदि पांच प्रकार के आश्रव द्वार की प्रवृत्ति रही हुई आत्मा कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को अन्दर खिचती है। (१) इन्द्रियाश्रव में इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा आश्रव होता है। इन्द्रियां पांच है।

(१) स्पर्शेन्द्रिय	–	चमड़ी	–	स्पर्श विषय	–	८
(२) रसनेन्द्रिय	–	जीभ	–	रस ,,	–	५
(३) घ्राणेन्द्रिय	–	नाक	–	गन्ध ,,	–	२
(४) चक्षुइन्द्रिय	–	आंख	–	वर्ण ,,	–	५
(५) श्रवणेन्द्रिय	–	कान	–	ध्वनि ,,	–	३
पांच इन्द्रियों के →					कुल-विषय—	२३

संसार में सभी जीव सशरीरी है और शरीर है तो इन्द्रियां अवश्य है जो सभी को समान नहीं मिलती—कम-ज्यादा मिलती है। किसी को १, किसी को २ ३ ४ और ५। अतः जीवों में एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के भेद है। इन्द्रियों के माध्यम से शरीरस्थ जीव उन उन विषयों को ग्रहण करता है। स्पर्शेन्द्रिय से ८ प्रकार के स्पर्श का ही ग्रहण होगा। उससे आत्मा को स्पर्शानुभव ज्ञान होता है। इसी प्रकार पांचों इन्द्रियां अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं, तथा प्रकार के विषयों में आत्मा राग-द्वेष के आधीन होती है। कुछ विषय प्रिय लगते है। सुगन्ध प्रिय है, दुर्गन्ध अप्रिय है। मीठा-मधुर रस प्रिय है। कटु-कडवा रस अप्रिय लगता है। इस तरह २३ विषयों में कुछ में जीव ने प्रिय की बुद्धि बनाई है और कुछ में अप्रिय की बुद्धि बनाई है। ये प्रिय-अप्रिय भाव राग-द्वेष के कारण

होते हैं। अतः राग-द्वेष के आधीन होकर आत्मा कई कर्मों का आश्रव करती है। इस प्रकार के राग-द्वेष में इन्द्रियां निमित्त बनी है अतः इन्द्रियाश्रव कहलाएगा। यह ५ प्रकार का है।

(२) कषायाश्रव— क्रोध-मान-माया-लोभ ये ४ कषाय है। कष+आय= कषाय। कष=अर्थात् संसार और आय अर्थात्=लाभ। अर्थात् कषाय का अर्थ संसार का लाभ होता है। आत्मा इन क्रोधादि कषायों के आधीन जब भी होती है तब आत्मा का संसार बढ़ता है। इसलिए ये कषाय भी आत्मा में कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को खींचकर लाने का आश्रव का कार्य करते हैं। अतः चार प्रकार का कषायाश्रव कहलाता है।

(३) अव्रताश्रव—व्रत ५ है। अहिंसा-सत्य-अस्तेय ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह ये ५ व्रत धर्मस्वरूप है। आत्मा इनमें रहे तो कर्माश्रव नही होता है। उपर से कर्म क्षय होता है। परन्तु सभी जीव इन पांच व्रतों में नहीं रहते। अधिकांश जीव इनसे विपरीत अव्रतों में रहते है। अ+व्रत=अव्रत। अर्थात् व्रत का अभाव=अव्रत। व्रत से विपरीत चलना यह अव्रती का कार्य है। हिंसा —झूठ—चोरी—मैथून सेवन तथा परिग्रहवृत्ति ये पांच अव्रत है। व्रत से सर्वथा विपरीत अव्रत है। जीव जब हिंसा—झूठ-चोरी आदि अव्रतों का आचरण करता है तब आत्मा में कार्मण—वर्गणा का आश्रव होता है। काफी ज्यादा प्रमाण में कर्म लगते हैं। अतः ५ प्रकार के हिंसादि अव्रताश्रव है।

(४) योगाश्रव—मन, वचन और काया (शरीर) ये ३ योग कहलाते हैं। संसारी जीवों को ये तीन साधन मिलते हैं। प्रत्येक जीव को शरीर तो अवश्य मिलता ही है। बिना शरीर के कोई जीव संसार में रहता ही नहीं है। अशरीरी सिर्फ सिद्ध—मुक्त ही कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से उपर के जीवों को दूसरा वचन योग मिलता है। तथा सिर्फ संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों को ही मन मिलता है। इस तरह ये ३ साधन जीवों को मिलते हैं। इन्हीं के जरिए जीव कर्मबन्ध या कर्मक्षय की प्रवृत्ति करता है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में कहा है— "काय-वाङ्—मनः कर्मयोगः"। काया वचन और मन के द्वारा जीव कर्म से जुडता है। कर्मयोग इनके माध्यम से होता है। अशुभ पाप कर्म भी ये ३ ही बंधाते है और शुभ पुण्य कर्म भी ये ३ ही बंधाते हैं। अतः योगाश्रव में इन ३ को आश्रव का कारण गिना है।

(५) क्रियाश्रव— संसारी जीव विविध प्रकार की क्रियाएं करता है। गमना-

गमन जिस तरह क्रिया है उसी तरह विदारणों—राग करना, प्रेम करना, द्वेष शस्त्रादि बनाना, हिंसा करना, आरम्भ समारंभादि करना ये सब क्रिया है। ऐसी २५ प्रकार की मुख्य क्रियाएं हैं। जीव जब इस प्रकार की क्रियाओं के आधीन होता है तब जीव में कार्मण वर्गणा का आश्रव होता है। जीव कर्माणुओं से लिप्त होता है। कौन सा जीव संसार में क्रिया नहीं करता है? सभी करते हैं। अतः सभी कर्मों से बंधते हैं। सिद्धात्मा ही सिर्फ अक्रिय—निष्क्रिय है यानि सर्वथा क्रिया रहित है।

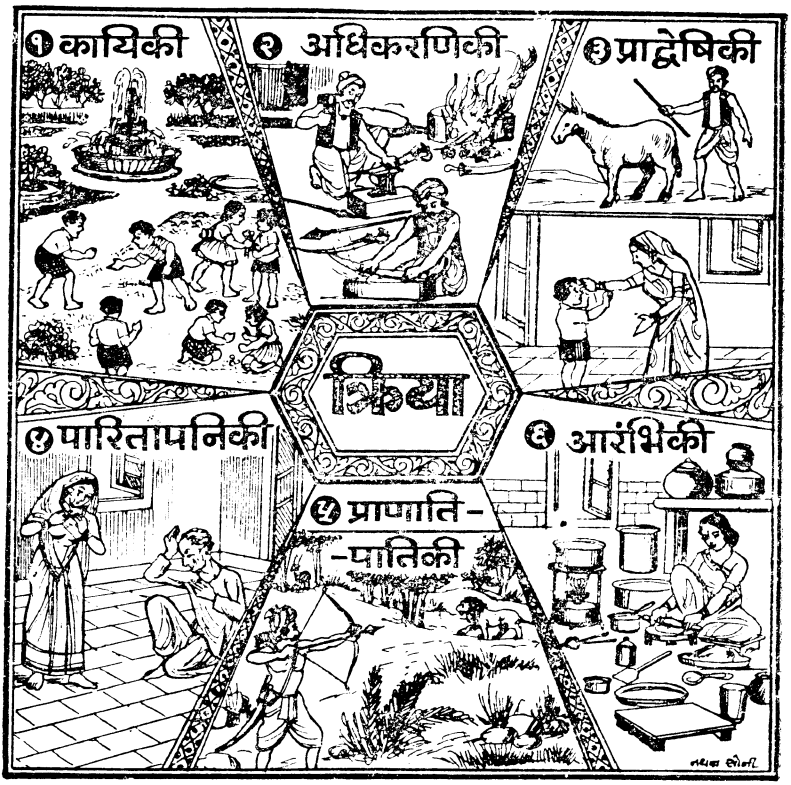

इस प्रकार पांच मुख्य आश्रव द्वारों के ४२ भेद हुए। इन ४२ तरह से जीव में कार्मण वर्गणा का आश्रव होता है। आत्म प्रदेशों में कार्मण परमाणु भर जाते हैं।

आश्रव के बाद बन्ध

जैसा कि चित्र में बताया गया है—दो ग्लास दूध के है। पहले ग्लास में दूध

में शक्कर डाली जा रही है। दूध में बाहर से शक्कर का आना यह आश्रव मार्ग

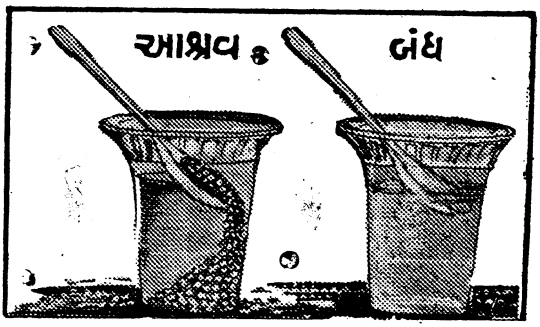

है। वैसे ही बाहर से कार्मण वर्गणाओं का आत्म प्रदेश में आना यह आश्रव है। परन्तु शक्कर के आने मात्र से ही दूध मीठा नहीं हो जाता। एक मां ने बेटे को चीनी डालकर एक ग्लास दूध पीने के लिए दिया। परन्तु दूध फीका लगते ही बेटे ने पीने से इन्कार कर दिया और रोने लगा दूध फीका है मैं नहीं पीऊंगा। मां कहती है फीका नहीं है मीठा है। मैंने बहुत ज्यादा चीनी डाली है। बेटा कहता है। बिल्कुल चीनी नहीं है। मां बेटे के बीच के संघर्ष को पिता ने सुलझाया। एक चम्मच लेकर ग्लास में खूब हिलाया। २ मिनिट में शक्कर पिघल गई। बेटा मीठा दूध पीकर खुश हो गया। जो हिलने की क्रिया करके दूध-शक्कर को एक रस बनाया गया, शक्कर सर्वथा पिघल गई और दूध में मिल गई—मिश्रित हो गई, उसी तरह बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों के साथ मिल कर, मिश्रित होकर एक रस बन जाय उसे बंध तत्त्व कहते हैं।

दूसरे चित्र में एक प्याले में पांच ग्लासों का पानी+दूध मिश्रित किया जा रहा है। पांचों ग्लासों में अलग-अलग द्रव्य है। किसी में दूध तो किसी में पानी

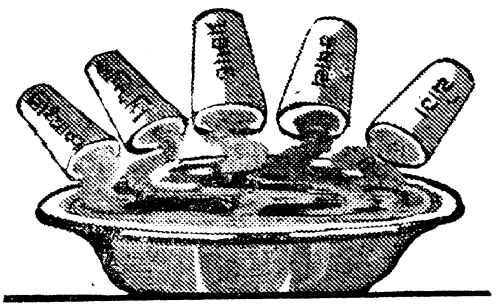

है। सभी का मिश्रण एक प्याले में हो रहा है। एक प्याले में भिन्न-भिन्न पदार्थों के आगमन की क्रिया को आश्रव कहते हैं। उसी तरह आत्मरूपी एक प्याले में इन्द्रियाश्रव आदि पांच द्वारों से कार्मण वर्गणा का जो आगमन होता है वह आश्रव कहलाता है। परन्तु प्याले में पांचों ग्लासों का द्रव्य एकत्र हो गया। मिश्रित हो गया। अब दूध-अलग-पानी-अलग-चीनी-अलग—इस तरह अलग-अलग नहीं दिखाई देंगे। चीनी पिघलकर दूध-पानी में मिलकर तदाकार बन गया है। यह मिश्रण अब एकाकार दिखाई देगा। ठीक इसी तरह भिन्न-भिन्न इन्द्रियाश्रवादि आश्रव मार्गों

से आई हुई कार्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों के साथ मिलकर एक रस हो जाते है। इसे क्षीर-नीरवत् बन्ध कहते है। आत्मा+कर्म का एक-रसात्मक मिश्रण यह बंध कहलाता है।

दूसरा एक दृष्टान्त है। सिगड़ी के जलते अंगारे पर एक लोहे का गोला रखा जाय। देखते ही देखते थोड़ी देर में वह लाल बन जाएगा। अग्नि की ज्वाला में तपकर लाल बन गया। गोला लोहे का है। देखने में बिल्कुल काला है। परन्तु अग्नि के संयोग में लाल बन गया। सोचने की बात यह है कि लोहे के मजबूत गोले में जहां सूई नहीं प्रवेश कर सकती,

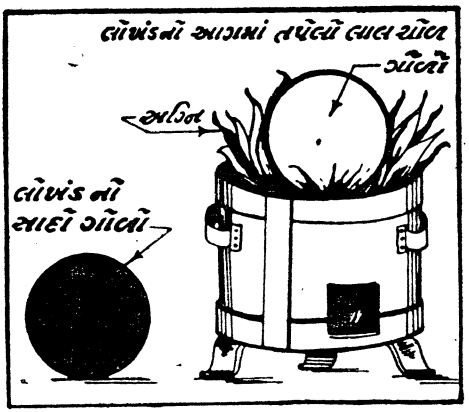

पानी भी प्रवेश नहीं कर सकता। तनिक भी जगह नहीं है फिर भी अग्नि कैसे प्रवेश कर गई? अग्नि गोले के आर-पार चली गई। सारे गोले का काला रंग बदल दिया। लाल कर दिया। मानों अग्नि और गोला एक रस हो गए है। अग्निमय गोला हो गया। ठीक इसी तरह आत्मा भी एक गोले जैसी है। असंख्य प्रदेशी चेतन द्रव्य है। बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा आश्रव मार्ग से आकर आत्म प्रदेशों में चिपक गई है। आत्म प्रदेशों की संख्या से तो अनन्तगुनी ज्यादा कार्मण वर्गणाएं आकर आत्मा के साथ मिलकर एकरस बन गई है। अतः तप्तअयःपिण्ड-तपे हुए लोहे के गोले की तरह आत्मा+कर्म पुद्गलों का मिश्रण ही बंध तत्त्व कहलाता है। लोहे में अग्नि की तरह आत्मा में कार्मण वर्गणाओं का प्रवेश होता है। वे मिलकर तद्रूप तन्मय बन जाती है। अब आत्मा कर्म में भेद नहीं दिखाई देता। ऐसा एक रसात्मक मिश्रण हो जाता है। यह कर्म बन्ध कहलाता है। अब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं दिखाई देती। कर्म संयोग से मलीन, कर्ममय दिखाई देती है।

જીવ કાર્મણવર્ગણાને ખેંચે છે

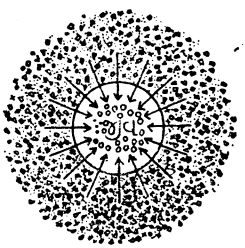

आत्म गुणों को ढकने वाले कर्म

समझने के लिए एक चित्र पास में दिया है। ८ प्रकार के भगोने है। जिनमें

भिन्न-भिन्न खाद्य सामग्री है। किसी में चाय, किसी में दूध, किसी में सब्जी-चावल-दाल आदि। उन भगोनों पर ढक्कन ढक दिया इससे ये पदार्थ उन भगोनों में ढक

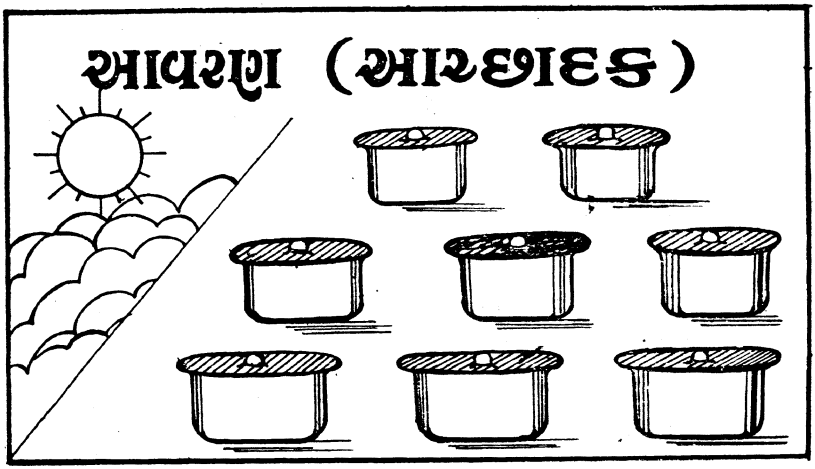

गए। छिप गए। ठीक उसी तरह आत्मा के भिन्न-भिन्न ८ गुण है। उन गुणों पर बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा जम गई। जैसे १-२ महिने के लिए घर बन्द कर बाहर गांव जाते हैं और बापिस आने के बाद घर खोलते ही घर में धूल के ढेर

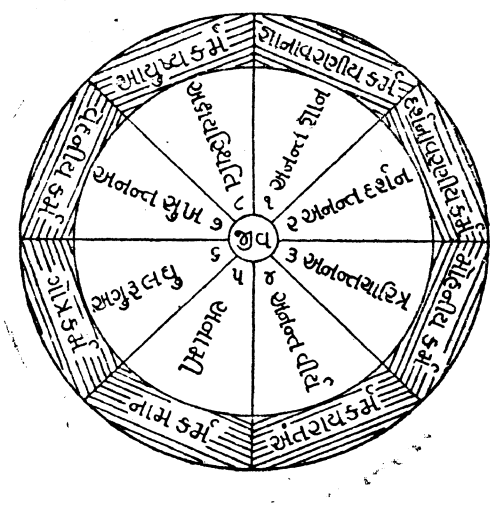

दिखाई देते हैं। कितनी भी अच्छी मारबल की टाइल्स हो परन्तु धूल के रजकणों से आच्छादित होने से टाइल्स का रूप-रंग-डिजाइन दिखाई नहीं देंगे। ठीक उसी तरह आश्रव मार्ग से आई हुई कार्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों पर छा जाती है। जम जाती है। परिणाम स्वरूप आत्म गुण दब जाते हैं। ढक जाते है। स्पष्ट दिखाई नहीं देते। अतः भगोनों को ढकने वाले ढक्कन की तरह आत्म गुणों को ढकने वाले

कर्मों को आवरण कहते है। आवरण=अर्थात् ढकना। बाधक तत्त्व। आवरण यह संस्कृत शब्द है। ढक्कन यह हमारा चालु भाषा का शब्द है। अतः कर्मों ने क्या किया? कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं ने क्या किया? आत्म गुणों को ढक दिया। दबा दिया, छिपा दिया। यह ढकना-दबाना-छिपाना आवरण क्रिया कहलाती है। आवरण की क्रिया अर्थात् आच्छादन करने वाले कर्म आवरणीय कर्म कहलाते हैं।

कर्मों के नाम अलग से नहीं कहलाते है। कर्मों के अपने स्वतंत्र नाम नहीं पडे हैं। आत्मा के जिस गुण को कर्म ढकते हैं उस गुण के आवरणीय वे कर्म कहलाएंगे। जैसे जन्मे हुए जातक का नाम उस राशी और नक्षत्र के चरणानुसार पड़ते हैं। वैसे ही कर्मों के नाम आत्मा के गुणों को ढकने वाले आवरक के रूप में पड़ते हैं। आत्मा के गुण भिन्न-भिन्न है अतः कर्मों के नाम भी भिन्न-भिन्न पड़ेंगे। आत्मा के गुण ८ है इसलिए कर्म भी ८ हैं।

आत्म गुण		आवरक कर्मों के नाम
(१) अनन्त ज्ञान गुण	—	ज्ञानावरणीय कर्म
(२) अनन्त दर्शन गुण	—	दर्शनावरणीय कर्म
(३) अनन्त चारित्र गुण	—	मोहनीय (चारित्रावरणीय) कर्म
(४) अनन्त वीर्य गुण	—	अन्तराय कर्म
(५) अनामी-अरूपी गुण	—	नाम कर्म
(६) अगुरुलघु गुण	—	गोत्र कर्म
(७) अनन्त (अव्याबाध) सुख गुण	—	वेदनीय कर्म
(८) अक्षय स्थिति गुण	—	आयुष्य कर्म

(१) आत्मा के अनन्त ज्ञान गुण को ढकने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप बने कर्मावरण का नाम ज्ञानावरणीय कर्म है। आत्मा के आठ विभाग गुणानुसार किये गए है। आत्म प्रदेशों पर आई हुई कार्मण वर्गणा उन उन विभाग के आधार पर उन उन गुण को ढकने वाले आवरक कर्म के नाम से पहचानी जाती है। इसलिए आत्म गुण के नाम को जोड़कर आवरण शब्द लगाकर कर्म का नाम बनाया है। या दूसरा तरीका है उस गुण के ढक जाने से—दब जाने से उस कर्म की क्या किया है, क्या असर है उस रूप से भी नामकरण की व्यवस्था की गई है।

(२) आत्मा के अनन्त दशन गुण को ढकने वाले कर्म को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(३) आत्मा के अनन्त चारित्र गुण को ढकने बाले कर्म को चारित्रावरणीय कर्म भी कहते है। या दूसरी रीत से आत्मा के अव्याबाध स्वरूप को जो कि शुद्ध स्वरूप है उसे रोक कर मोहग्रस्त करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं।

(४) आत्मा में अनन्त वीर्य गुण है। वीर्य यहां शक्ति अर्थ में प्रयुक्त है। इस अनन्त वीर्य गुण का आवरक अर्थात् अवरोधक अन्तराय कर्म के नाम से पहचाना जाता है। अन्तराय करना अर्थात् विघ्न डालना। अवरोध करना। इस पर से अन्तराय कर्म नाम पड़ा। यह आत्मा की शक्तियों को उपलब्धियों को, प्रगट होने में विघ्न अन्तराय करता है।

(५) चेतन आत्म द्रव्य स्वस्वरूप से अनामी है। अरूपी है। आत्मा का कोई नाम नहीं है। आकार विशेष भी नहीं है। आत्मा का कोई रंग-रूप भी नहीं है। आत्मा कोई हाथ-पैर वाली आकृति विशेष भी नहीं है। फिर भी आत्मा को रूप-रंग वाला, नाम-आकृति-गति-जाति-शरीरादि वाला बनाने का काम करने वाला नाम कर्म है।

(६) आत्मा हल्की-भारी भी नहीं है। ऊंच-नीच-छोटे-बड़े आदि का आत्मा से कोई संबंध नहीं है। ऐसी अगुरुलघु स्वभाव वाली आत्मा को उच्च वर्ण (जाति) कुल तथा नीच वर्ण-कुल-जाति आदि में ले जाने वाला गोत्र कर्म है। यह छोटा है, यह इससे बड़ा है। जाति-कुल में ऊंच-नीच का भेदभाव गोत्र कर्म कराता है।

(७) आत्मा अनन्त सुखस्वरूप है। अनन्त रूप से सुख आत्मा में भरा पड़ा है। आनन्द ही आनन्द है। आनन्दघन स्वरूप, सच्चिदान द स्वरूप, चिदानन्द स्वरूप आत्मा का सुख अव्याबाध है। अर्थात् किसी से व्याबाध पाने वाला नहीं है। परन्तु संसारी अवस्था में ४ गति में भिन्न-भिन्न गति-जाति में सुख-दुःख का शाता-अशाता का अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है। जो वेदना-संवेदना पीड़ा, सुख-दुःखादि का अनुभव कराता है वह वेदनीय कर्म है।

(८) आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। आकाश के उड़ते पक्षी की तरह स्वैरविहारिणि आत्मा को एक देहपिंजर में नियत काल तक बन्दिस्त बनाकर रखने का काम आयुष्य कर्म का है। अक्षय=अ+क्षय=अक्षय। कभी भी क्षय अर्थात् नाश न होने

वाली आत्मा की अक्षय स्थिति है। परन्तु इस गुण पर आवरण रूप आकर आयुष्य कर्म आत्मा को जन्म–मरण के काल चक्र में फसा देता है। इसी आयुष्य कर्म के कारण जीव को देव-मनुष्यादि ४ गति में मिले शरीर में नियत काल अवधि तक बन्दिस्त बनकर रहना पड़ता है।

जिस तरह उदित हुए सूर्य पर चारों तरफ से घनघोर घटाटोप काले श्याम बादल छा जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप सूर्य की किरणें-पृथ्वीतल पर नहीं पहुंच पाती है। अन्धेरा छा जाता है। रात्री का भ्रम भी कभी-कभी पैदा कर देता है। सूर्य के होते हुए बादलों के कारण यह स्थिति निर्माण हो जाती है। ठीक इसी तरह आत्मा भी एक ज्ञानवान अनन्त शक्ति आदि गुणवान तेजस्वी सूर्य समान प्रकाश-पुञ्जवद् द्रव्य है। सूर्य जैसे प्रकाश फैलाता है वैसे आत्मा ज्ञानादि गुणों का आविर्भाव करती है। परन्तु आत्मा पर कई परदे आ जाय तो क्या स्थिति हो? सूर्य पर बादलों की तरह आत्मा पर कर्मावरण रूपी बादल छा जाते हैं। अब उन आवरक बादलों से कितना प्रकाश प्रकट होगा? उदाहरणार्थ सूर्य का प्रकाश काले घटाटोप बादलों में से कितना आता है उतना ही आत्मा में से ज्ञानादि अल्पमात्रा में बाहर प्रकट होगा। आठ कर्म के आठ आवरण है। इनमें से निकलता हुआ जो अल्पतम मात्रा में ज्ञानादि गुणों का प्रकाश होगा वही नाम मात्र व्यवहार में आएगा। सूर्य पर से बादल हवा के झोके से खिसक भी जाते हैं। परन्तु आत्मा पर से कर्मावरण इतनी जल्दी या हवा के झोके से नहीं हट जाते। परिणाम स्वरूप आत्मा पर कर्म डट कर जम जाते हैं। यह कर्मावरण का कार्य है। इन आठ कर्मों के कार्य क्षेत्र को समझने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने ८ उदाहरण दिये हैं। उन्हें समझने से उनकी साम्यता सादृश्यता के कारण आठ कर्म भी समझ में आ जाएंगे। वे दृष्टान्त निम्न प्रकार है।

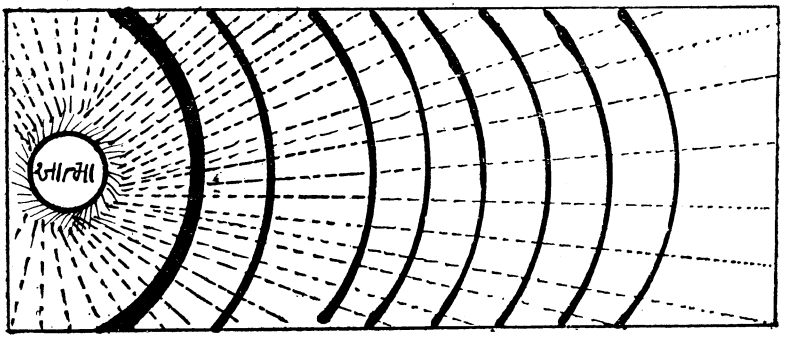

पड-पडिहार-ऽसिमज्ज-हड-चित्त-कुलाल-भंडगारीणं ।
जह एएसि भावा, कम्माणऽवि जाण तह भावा ।।

आंख पर पट्टी, द्वारपाल (चौकीदार), मधुलिप्त तलवार, मदिरापान, जंजीर, चित्रकार, कुम्हार तथा भण्डारी आदि के जैसे स्वभाव एवं कार्य है वैसे ही स्वभाव तथा कार्य कर्मों के हैं। क्रमशः आठों के बारे में सोचें।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—आंख पर पट्टी जैसा। आंख से देखते हैं। देखने की शक्ति-ज्योति आंख में होते हुए भी जब आँख पर पट्टी बांधी जाती है तब कुछ भी नहीं दिखाई देता। देखता मनुष्य भी अन्धे की तरह चलने लगता है। दर्शन की शक्ति-ज्योति होते हुए भी आंख पर बंधी पट्टी देखने में बाधक बन गई। आवरण बन गई। देखने की शक्ति को आच्छादित कर दी। ठीक इसी तरह आत्मा में अनन्त ज्ञान शक्ति है। जिससे आत्मा सब कुछ जान सकती है। परन्तु उस ज्ञान गुण पर आए हुए ज्ञानावरणीय कर्म ने आंख पर की पट्टी की तरह काम किया। ज्ञान गुण को ढक दिया—छिपा दिया। अब अन्धे की तरह बेचारा जीव अज्ञानाधीन प्रवृत्ति करता है। स्पष्ट समझ में नहीं आता। याद नहीं रहता। भूल जाता है इत्यादि सैकड़ों समस्याएं ज्ञान के क्षेत्र में उत्पन्न होती है। अतः ज्ञानावरणीय कर्म को आंख पर बंधी पट्टी की उपमा दी है।

(२) द्वारपाल के जैसा दर्शनावरणीय कर्म—राजमहल के बाहर द्वारपाल=चौकीदार जो खड़ा रहता है उसे पडिहार—प्रतिहार कहते हैं किसी को भी राजमहल में जाने से पहले द्वारपाल रोकता है। द्वारपाल के द्वारा रोका गया मनुष्य जिस तरह राजा के दर्शन नहीं कर पाता है। ठीक उसी तरह आत्मा को देखने की शक्ति अनन्त है। अतः अनन्त दर्शन गुण कहा जाता है। परन्तु इस अनन्त दर्शन पर आया हुआ दर्शनावरणीय कर्म इस गुण को ढक देता है। दबा देता है। परिणाम स्वरूप अनन्त दर्शन शक्ति होते हुए भी आत्मा सब कुछ देख नहीं पाती। यह दर्शनावरणीय कर्म का कार्य है।

जिससे इन्द्रियां हीन मिलती है। क्षीण होती है। दिखाई देना, सुनाई देना आदि कार्य में बाधा पहुँचती है।

(३) मधुलिप्त तलवार जैसा वेदनीद कर्म—जैसे एक मनुष्य तलवार पर मधु को लगाकर चाट रहा है। मधु मधुर लगता है तब तक चाट रहा है। परन्तु मधु समाप्त होने पर स्वादासक्ति के कारण चाटते रहने पर जब जीभ कट जाती है तब निकलते खून के कारण वेदना होती है। पीड़ा होती है। मधु चाटते समय सुख-आनन्द और मधु की समाप्ति के बाद जीभ कटने पर दुःख होता है। ठीक उसी तरह आत्मा पर वेदनीय कर्म है। वेदना-संवेदना सुखात्मक और दुःखात्मक उभय प्रकार की होती है। वेदनीय कर्म के दो कार्य है। सुखानुभव को शाता वेदनीय और दुःखानुभव को अशाता वेदनीय कर्म कहते हैं। अतः वेदनीय कर्म को मधुलिप्त तलवार की उपमा दी गई है।

(४) मदिरापान के जैसा मोहनीय कर्म—मोहनीय कर्म का स्वभाव मदिरापान किये हुए मनुष्य के जैसा है। जैसे एक मनुष्य शराब पीता है। शराब से शराबी विवेक-भान-भूल जाता है। और अंट-संट बकने लगता है। बोलने का भी विवेक नहीं और क्रिया-व्यवहार का भी विवेक नहीं रहता उसी तरह मोहनीय कर्म से ग्रस्त जीव का अनन्त चारित्र गुण ढक जाता है। परिणाम स्वरूप वास्तविकता-यथार्थता भूलकर मिथ्या प्रवृत्ति करता है। जो मेरा नहीं है उसे भी मेरा मानता है। मेरेपने की ममत्व-मोहवाली बुद्धि बन जाती है। यही मोहनीय कर्म का स्वभाव एवं कार्य मदिरापान किये हुए मनुष्य के जैसा है।

(५) बेड़ी (हथकड़ी) जैसा—आयुष्य कर्म—एक अपराधी को पकड़कर हथकड़ी लगाकर जेल में डाल दिया जाता है। घूमने-फिरने वाला मनुष्य जिस तरह जेल में बंदिस्त-कैदी होकर पड़ा रहता है। निश्चित काल अवधि तक सजा भोगता रहता है। उसी तरह अक्षय स्थिति गुण वाले जीव को आयुष्य कर्म काल

अवधि में बांध देता है। परिणाम स्वरूप जीव को जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं। मिले हुए देह के अन्दर निश्चित आयुष्य की अवधि तक रहना पड़ता है। स्वैर-विहारी पक्षी को जैसे पिंजरे में कैद रहना पड़ता है उसी तरह आयुष्य कर्म के कारण जीव को इस देह पिंजरे में कैदी बनकर रहना पड़ता है।

(६) चित्रकार-आर्टिस्ट के जैसा—नाम कर्म—एक कलाकार भिन्न-भिन्न चित्र बनाता है। एक स्त्री-पुरुष के चित्र में जिस तरह हाथ-पैर, मुंह-नाक-कान-गला आदि बनाता है। रंग भरता है। एक पेपर पर कुछ भी नहीं था और कलम-ब्रश-रंग से सब कुछ बना देता है। ठीक वैसे ही वर्ण-गंध-स्पर्शादि रहित-अरूपी-अनामी-अनाकार आत्मा को नाम कर्म एक शरीर के ढाचे में ढाल देता है। अनाकार को साकार बना देता है। अंग-उपांगादि वाला अब वह हाथी-बैल-मनुष्य-देव-कीड़े-मकोड़े आदि के आकार में दिखाई देता है। अरूपी जीव अब काला-गोरा वर्ण-रंग वाला बनता है। अनामी का अब नाम व्यवहार होता है। इस तरह गति-जाति-शरीर आदि बनाने का कार्य नाम कर्म चित्रकार-आर्टिस्ट की तरह करता है।

(७) कुम्हार के जैसा—गोत्र कर्म—गोत्र कर्म की तुलना कुम्हार के साथ की गई है। जिस तरह कुम्हार मंगल कलश, छोटे-बड़े तथा उच्च एवं निम्न दोनों श्रेणी के घड़े बनाता है। कोई सुवर्ण मोहरें भरने के लिए तद्योग्य ऊंचे घड़े ले जाते हैं तो कोई शराब भरने के लिए भी वैसे घड़े ले जाते हैं। इस तरह उच्च एवं निम्न दोनों श्रेणी के घड़े की तरह गोत्र कर्म भी आत्मा को ऊंच-नीच गोत्र में ले जाता है। वैसे आत्मा की दृष्टि से सभी समान है। आत्मा अगुरुलघु स्वभाव वाली है। गुरु अर्थात् भारी, बड़ी और लघु अर्थात् हल्की, छोटी इत्यादि। उसके सामने निषेधार्थक 'अ' अक्षर आया है। अर्थात् अगुरुलघु-आत्मा न छोटी है न बड़ी है। न भारी है न हल्की है।

परन्तु गोत्र कर्म किसी जीव को उच्च कुल में और किसी को नीच कुल में ले जाता है। किसी को राजकुल में जन्म मिलता है तो किसी को हरिजन-भंगी-चमार मेतर कुल में जन्म मिलता है। एक उच्च गोत्र पूजनीय गिना जाता है तो दूसरा नीच गोत्र निंदनीय गिना जाता है। यह सारा कार्य गोत्र कर्म का है।

(८) भंडारी के जैसा—अंतराय कर्म—राज दरबार के भंडार को संभालने वाला जो भंडारी होता है उसके पास राजाज्ञा प्राप्त पुरुष कोई एक हजार रुपए लेने आया है। ऐसे समय भंडारी राजा की आज्ञा होते हुए भी मनाई करता है। *नहीं मिलेंगे। पहले का हिसाब लाओ।* क्या किया? कहां गए? अब नहीं मिलेंगे। भले ही राजा की आज्ञा हो। ठीक इसी तरह अन्तराय कर्म है। यह विघ्नकर्ता है। दान-लाभ आदि प्राप्त होते हो उसमें विघ्न करने का काम अन्तराय कर्म भंडारी की तरह करता है। इस अन्तराय कर्म के कारण आत्मा अपने अनन्त दानादि, अनन्त शक्ति आदि गुणों को प्राप्त नहीं कर सकती है। होने पर भी बीच में विघ्न करता है वह अन्तराय कर्म है। इसे भंडारी की-खजानची की उपमा दी गई है।

इस तरह इन आठ कर्मों को अच्छी तरह से समझ सकें इसके लिए शास्त्रकार महर्षियों ने आठ प्रकार के लौकिक दृष्टान्तों को लेकर उपमा देते हुए समझाया है। जो स्वभाव इन आठ कर्मों का है। अनन्त शक्तिमान आत्मा अपने अन्दर ज्ञान-दर्शनादि सब कुछ मूलभूत गुण एवं शक्तियां अनन्त के प्रमाण में पड़ी हुई होते हुए भी इन आठ कर्मों से दबकर आत्मा कुछ भी नहीं कर सकती है। यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है? इसीलिए कर्माधीन जीव आज कर्म के भार से दबा हुआ होने के कारण आत्मा धारणानुसार आत्म गुणों का पूर्ण आविर्भाव नहीं पाकर रही है। यह तो तभी संभव है जब आत्मा सर्व कर्म मुक्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाय तब सभी गुण अपने पूर्ण स्वरूप में प्रगट हो जाएंगे। तब कोई कर्म नहीं रहेंगे। अतः धर्म की व्याख्या यही समझा रही है कि—जो आत्मा पर लगे हुए आवरक—गुण आच्छादक कर्म है उनको हटाने का पुरुषार्थ आत्मा को करना चाहिए। अनन्त ज्ञान-दर्शनादि जो आत्म गुण है उन्हीं गुणों का जीव आचरण करें। आचार धर्म हो जाएगा। ऐसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप एवं वीर्य के नाम के पांच आचार है। उन्हें पंचाचार कहते है। इन पांचों आचार धर्मों का पालन करना अर्थात् स्वगुणोपासना करना यह मुख्य

धर्म है। इन्हीं पंचाचार के धर्मों का प्रमुख रूप से आचरण करने से उन उन-ज्ञान-दर्शनादि गुणों पर ढके हुए ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय आदि कर्मों का क्षय होगा। इसलिए धर्म आत्म गुण प्रादुर्भावक एवं कर्म क्षय कारक उभय रूप होना चाहिए। जिससे दोनों कार्य होंगे। एक तरफ कर्म क्षय होगा तो दूसरी तरफ जैसे जैसे कर्मावरण हटते जाएंगे वैसे वैसे आत्म गुण प्रकट होते जाएगे। यही धर्म का सही कार्य है। फल है। अतः तदनुरूप धर्म होना चाहिए। इस तरह कर्म सिद्धि के आधार पर धर्म की व्याख्या बनती है।

कर्म योग-संयोग

कर्म संसक्त संसारी आत्मा देहधारी है। आखिर जब आत्मा को संसार में—संसारी अवस्था में रहना है तो निश्चित ही उसे किसी न किसी देह में ही रहना पड़ेगा। यह देह भी कर्म निर्मित्त है। तथा प्रकार के कर्मानुसार आत्मा ने रहने के लिए देह का निर्माण किया है। एक गृहस्थी के लिये जिस तरह घर-मकान की आवश्यकता अनिवार्य है। अथवा किसी द्रव्य पदार्थ को रखने के लिए किसी आधार पात्र की पूरी आवश्यकता रहती है ठीक उसी तरह आत्मा एक द्रव्य है। इसको संसार में रहने के लिए तथा प्रकार के देह की पूरी आवश्यकता है। बिना आधार पात्र के जैसे पानी आदि द्रव पदार्थ आकाश में लटकते हुए नहीं रह सकते ठीक उसी तरह बिना किसी शरीर के जीवात्मा संसार में नहीं रह सकती। क्योंकि आत्मा निरंजन-निराकार अरूपी-अनामी है। यह शुद्ध स्वरूप संसार रहित मुक्तावस्था में सदा काल रहता है। परन्तु संसारी अवस्था में देह की आवश्यकता अनिवार्य है। संसार में बिना देह के आत्मा नहीं रह सकती। देह निर्माण के लिए कर्म कारण रूप है। देह आया कि देह के साथ इन्द्रियां आई। इन्द्रियों में जीभ आई कि भाषा का व्यवहार करने के लिए वचन योग आया। और आगे चलकर इन्द्रियों के पीछे अतीन्द्रिय मन आया। इस तरह आत्मा देह-इन्द्रियां-वचन एवं मन के घेरे में घिर गई। परिधि के मध्य में जैसे केन्द्र है वैसे ही देहादि की परिधि के मध्य में आत्मा है। पिंजरे में बंदिस्त पोपट की तरह आत्मा इस देह पिंजर में बंदिस्त है। अतः कर्माधीन जीव न केवल कर्म के ही आधीन हुआ अपितु कर्म से जन्य शरीर-इन्द्रियां, वचन एवं मन के भी आधीन हो गया है। इसीलिए आज हम शरीर के गुलाम, परवश, इन्द्रियों के गुलाम तथा मन के गुलाम बने हुए हैं। सभी जीवों को सभी इन्द्रियां नहीं मिलती-कम-ज्यादा मिलती है। उसी तरह सभी जीवों को मन नहीं मिलता है। सिर्फ संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों को ही मन मिलता हैं। जहां तक इन्द्रियां ही पूरी न मिली हो वहां तक मन भी नहीं मिलता। इन्द्रियां पांचों मिल गई हो उसके बाद ही मन

का नम्बर आता है। इसलिए मन वाले जीव पंचेन्द्रिय ही होते हैं। पांच से कम इन्द्रिय वाले जीव मन वाले नहीं बनते।

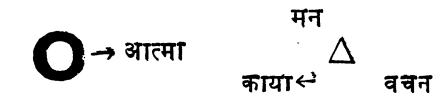

इस तरह जीव मन–वचन और काया के इन तीन के घेरे में घिर गया है। अब आत्मा को सारी प्रवृत्ति इन्हीं के माध्यम से करनी है। इन्द्रियां शरीर का ही भाग है। अंग विशेष है अतः इन्द्रियों को अलग से स्वतंत्र न गिनते हुए उन्हें शरीर के अन्तर्गत ही गिनकर चलते हैं। अतः मुख्य रूप से शरीर–वचन एवं मनोयोग वाले जीव हुए। ये तीनों कारण रूप है। क्रिया में सहायक–सहयोगी है। आत्मा इनके माध्यम से क्रिया करती है। संसारी अवस्था में सारी क्रियाएं इनकी सहायता से चलती हैं। कर्माधीन जीव इन्द्रियों की सहायता से देखता-सुनता-सूंघता है। देखने–सुनने की क्रिया तो जीव ही करता है। परन्तु देखने में आंख सहायक बनती है। इन्द्रियों के जरिये देखा–सूंघा जाता है। आत्मा शरीर में न हो और इन्द्रियां सभी पूरी हो तो वे इन्द्रियां देखने–सुनने आदि की क्रिया नहीं कर सकती। अतः मुख्य कर्ता चेतन जीव है।

शुभ–अशुभ क्रिया से कर्म

क्रिया का कर्ता चेतन जीव है। क्रिया में साधन रूप शरीरादि है। इन सबके माध्यम से तथा प्रकार की भिन्न भिन्न क्रियाएं होती है। शरीर के द्वारा हलन–चलन, गमन–आगमन, निद्रा–जागृति, आहार–निहारादि की सभी क्रियाएं शरीर के माध्यम से होती है। शरीरधारी जीवों की ये प्रमुख क्रियाएं है। इन्द्रियों के माध्यम से जीव देखने–सुनने–सूंघने–चखने–स्पर्श करने की क्रिया करता है। ये पांचों इन्द्रिया २३ प्रकार के वर्ण–गंध रस–स्पर्श—ध्वनि आदि क्रिया में कारक है। पांच इन्द्रियों के मुख्य २३ विषय है। वर्ण—५, + गंध—२, + रस—५, + स्पर्श—८, + ध्वनि—३=२३। इन २३ विषयों की क्रिया पांच इन्द्रियों के माध्यम से होती है। ये पांचों इन्द्रियां २३ विषयों का ज्ञान कराती है, तथा प्रकार के वर्णादि के ज्ञान में सहायक है अतः ज्ञानेन्द्रियां कहलाती है। **वचनयोग**—भाषा बोलने की क्रिया में कारण रूप है। वचन योग के माध्यम से व्यक्त-अव्यक्त प्रकार की भाषा जीव बोलता है। भाषा व्यवहार भी संसार में बहुत ही आवश्यक क्रिया है। तीसरा है—मनोयोग। मन से सोचने-विचारने की क्रिया होती है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति के बारे में सोचना–विचारना पड़ता है। यह काम जीव मन के माध्यम से करता है।

जीव ही तथा प्रकार की क्रिया के लिए इन साधनों को निर्माण करता है। तभी इनके माध्यम से तथा प्रकार की क्रिया कर सकता है। इन क्रियाओं में शुभ भी होती है और अशुभ भी होती है। दोनों प्रकार की क्रिया का कर्ता चेतन जीव है। और सहायक करण–माध्यम–काया–वचन तथा मन है। इन्हीं के जरीए आत्मा कर्म से संसक्त होती है। उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कहा है कि— **"काय–वाङ.मनः कर्मयोगः"**। काया–वचन और मन के द्वारा कर्म का संयोग होता है। तथा प्रकार की क्रिया करता हुआ जीव कर्म से संयोग करता है। कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं का आत्मा से संयोग होता है। यह कर्म योग आगे बंध में अच्छी तरह बंधकर एक रस हो जाता है।

क्रिया परक कर्म की व्याख्या

कर्म एक शब्द है। संस्कृत के धातुकोष की "डुकृंग–करणे"—कृ=करणे धातु से कर्म शब्द बना है। अतः कर्म क्रिया परक है। क्रिया विशेष से जन्य है। अतः कर्म की क्रिया परक व्याख्या करते हुए देवेन्द्रसूरि ने प्रथम कर्म ग्रन्थ में लिखा है कि—**"किरइ जीएण हेउहिं जेण तो भन्नए कम्म"** अर्थात् जीव के द्वारा हेतु पूर्वक जो क्रिया की जाय, या जो कुछ क्रिया जाय वह कर्म कहा जाता है। इस सूत्र के अन्दर एक–एक शब्द का पूरा महत्व है। एक भी शब्द निकाल नहीं सकते। हेउहिं—हेतु शब्द पर ज्यादा भार दिया गया है। मात्र क्रिया कर्म नहीं है। परन्तु हेतु पूर्वक की गई क्रिया कर्म है। क्रिया का कर्ता जीव है। कर्ता के बिना क्रिया हो नहीं सकती उसी तरह जीव के बिना कर्म नहीं हो सकते। अतः जीव ही कर्म का कर्ता है। कर्म क्रिया जन्य है। हेतु—आशय–भाव या अध्यवसाय के संदर्भ में है। क्रिया चाहे जैसी भी हो परन्तु हेतु कैसा है? इस पर बड़ा आधार है। संभव है बाहर से क्रिया अच्छी नहीं भी दिखाई देगी। क्रिया का बाह्य स्वरूप अप्रिय भी होगा परन्तु हेतु—आशय अच्छा भी हो सकता है। उदाहरणार्थ मां बच्चे का बुखार उतारने के लिए कडवी दवाई पिलाती है। आशय जानती है कि इससे बुखार जल्दी उतर जाएगा। बेटा अच्छा हो जाएगा। परन्तु क्रिया का बाहरी स्वरूप अच्छा नहीं लगेगा। बेटा रोता है चिल्लाता है। और मां पकड़ कर जबरदस्ती से कड़वी दवाई पिलाती है। दूसरी एक क्रिया है। पेट फाडना। इस प्रकार की क्रिया के कर्ता दो प्रकार के होते है। एक तो सर्जन डॉक्टर और दूसरा खूनी, छूरा चलाने वाला अपराधी। छूरा चलाने वाला भी पेट पर छूरा चलाकर भाग जाता है। पेट पर चीरा पड़ जाता है, चमड़ी कट जाती है और खून बहने लगता है। दिखने में डॉक्टर

की क्रिया भी इससे मिलती-जुलती है। सर्जन डॉक्टर भी पेट पर चाकु चलाता है। चमड़ी कटती है, खून बहता है, पेट फटता है। परन्तु इस प्रकार की क्रिया करने वाले दोनों कर्ता का आशय भिन्न-भिन्न है। आशय-हेतु में रात-दिन का अन्तर है। डॉक्टर का आशय मरते हुए को भी बचाने का है। जबकि खूनी का हेतु जिन्दे को भी मारने का है। अतः क्रिया में आशय—हेतु महत्व की भूमिका अदा करता है। तद्नुरूप कर्म बंध होता है। मरते हुए को भी बचाने का कार्य करने वाले सर्जन डॉक्टर को शुभ पुण्य कर्म लगते हैं और बचे हुए या जिन्दे को मारने का पंचेन्द्रिय हत्या का पाप खूनी को लगता है। पाप अशुभ कर्म है। इस प्रकार कर्म क्रिया जन्य है। जीव के अध्यवसाय-परिणाम पर आधारित है। इसीलिए कहा गया है कि—**"क्रियाए कर्म—परिणामे बंध"** क्रिया के आधार पर कार्मण पुद्गल परमाणुओं का आगमन आत्मा में जरूर होता है। परन्तु बंध तो जीव के परिणाम के आधार पर होगा। थाली में आटा तो लिया परन्तु आटे का बंधन तो पानी के प्रमाण के अनुसार होगा। उसी तरह किसी भी प्रकार की क्रिया के अनुसार कार्मण वर्गणाएं आत्मा में आ जाएगी। यह आने की आश्रव क्रिया हुई। परन्तु आश्रव के बाद जो बन्ध होता है वह बन्ध परिणाम के आधार पर होता है। जिस तरह आटे में पानी-घी-तेल आदि डाला जाता है और उसके आधार पर आटे का पिण्ड होता है। उसी तरह आत्मा में आए हुए कार्मण वर्गणा के जड़ पुद्गल परमाणुओं में जीव परिणाम-अध्यवसाय रूपी रस डालता है। तथा प्रकार के रस के आधार पर उन कार्मण परमाणुओं का पिण्ड—वह कर्म कहलाएगा। मात्र बाहरी आकाश प्रदेश में रही हुई कार्मण वर्गणा को कर्म नहीं कहा जाता। जैसे मात्र गेहूं के चूर्ण (आटे) पर वेलन चलाने से रोटी नहीं बनती। उसमें पानी डालकर आटे का पिण्ड बांधा जाय फिर रोटी बनेगी। उसी तरह कार्मण वर्गणा कर्म नहीं है। वे ही आत्मा के साथ मिलकर एक रस बन जाती है फिर उनका पिण्ड जो होता है वह कर्म की संज्ञा प्राप्त करता है। यह कार्मण पिण्ड कर्म कहलाता है। प्रायः परिणाम के अनुसार क्रिया होती है और प्रायः क्रिया के अनुरूप परिणाम भी होते हैं। परन्तु साम्यता और वैषम्य दोनों इनके बीच दिखाई देते हैं। परिणाम अच्छे भी हो और क्रिया का स्वरूप खराब भी हो सकता है। या परिणाम खराब भी हो और क्रिया अच्छी भी हो सकती है। उदाहरणार्थ—मन्दिर में दर्शन-पूजा करने आने की क्रिया अच्छी है परन्तु भगवान का मुकुट चोरने के परिणाम खराब से खराब होने के कारण दर्शन-पूजा की क्रिया का पुण्य नहीं लगेगा परन्तु मुकुट चोरने के परिणामानुसार भयंकर अशुभ कर्म बन्ध होगा। इस तरह परिणाम और क्रिया की चतुर्भंगी बनेगी—

(१) परिणाम अच्छे—क्रिया खराब ।
(२) परिणाम खराब—क्रिया अच्छी ।
(३) परिणाम अच्छे और क्रिया भी अच्छी ।
(४) परिणाम खराब और क्रिया भी खराब ।

इसमें परिणाम खराब वाले दोनों भंग अशुभ कर्म बंध कारक है । जबकि परिणाम अच्छे दो भंग में परिणाम के साथ साथ क्रिया भी अच्छी है तो दोहरा लाभ है । इस तरह कर्म बन्ध का मुख्य आधार परिणाम की शुभाशुभता पर है ।

कर्म बंध के हेतु

परिणाम और क्रिया का जो विचार कर्म बंध में किया है । उन कर्मों का बंध आत्मा के साथ जब होता है तब बंध के हेतु भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं । तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में बंध हेतु इस प्रकार बताए है—**मिथ्यादर्शना-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध हेतव:** ।।८-१) मिथ्यात्व अविरति-प्रमाद-कषाय और योग ये पांच बंध के हेतु है ।

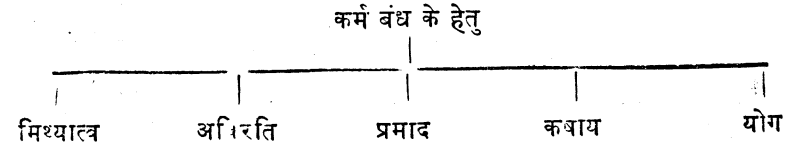

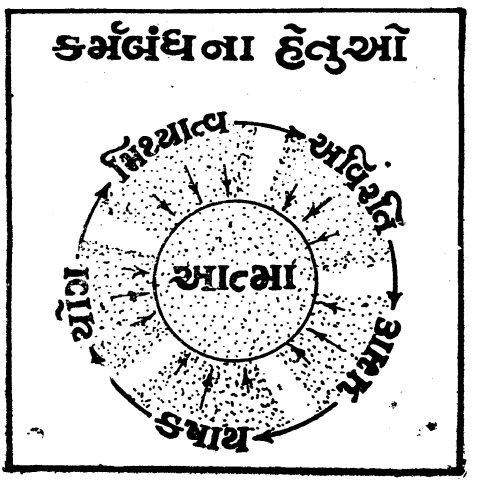

हेतु जो कारण रूप होते हैं । आत्मा के साथ कर्म बंध का क्या कारण है ? किस कारण से कर्म बंध होता है ? प्रयोजन विशेष को यहां हेतु कहा है । ऐसे हेतु के रूप में मिथ्यात्वादि पांच को कर्म बंध के कारण रूप में बताए हैं । आश्रव क्रिया से तो बाहरी आकाश प्रदेश में रही हुई सिर्फ कार्मण वर्गणा का आत्मा में आगमन मात्र हुआ है । आक-

र्षण हुआ है। जैसे दूध में शक्कर डाली है। परन्तु डालते ही मिल नहीं जाती है। थोड़ी देर हिलाने के बाद मिल जाती है। मिलने पर तो ऐसी मिल जाती है कि अब एक कण भी हाथ में नहीं आती। समस्त दूध में मिश्रित हो गई। एक रस हो गई। दूसरी क्रिया में देखें—लोहे का गोला भट्ठी में डालते ही लाल नहीं हो जाएगा। समय लगता है। अग्नि में थोड़ी देर तपेगा फिर लाल होगा। ठीक उसी तरह आश्रव मार्ग से कार्मण वर्गणा आती है, परन्तु आते ही आत्म प्रदेशों के साथ मिलकर एक रस नहीं बन जाती। यह तो सिर्फ आश्रवण-आगमन-आकर्षण हुआ है। थाली में आटा लेते ही पिण्ड बन नहीं जाता है। पानी डालने के बाद उसे मिलाकर एक रस बनाकर मसलने से पिण्ड होता है। उसी तरह आश्रव मार्ग से आत्म प्रदेश में आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु मिथ्यात्व आदि हेतुओं से आत्म प्रदेशों के साथ मिल कर एक रस बनेंगे। तब बंध कहलाएगा।

यद्यपि देखा जाय तो आश्रव मार्ग के भेदों में भी अविरति-कषाय और योगादि है तथा ये ही भेद बंध के अन्दर भी गिने गए हैं। अविरति-कषाय और योग ये बंध के भी भेद हैं तो क्या समझना? यदि ऐसी समानता है तो फिर दो भेद अलग क्यों किये गए हैं? प्रश्न सही है। सभी भेद दोनों में समान नहीं हैं। कुछ आंशिक साम्यता जरूर है। परन्तु इससे भी ज्यादा क्रिया के स्वरूप में भेद हैं। आश्रव की क्रिया में सिर्फ बाहर से पुद्गल परमाणुओं का आकर्षण मात्र है, उनका आत्मा में आना मात्र है। और आने के बाद एक रस हो मिल जाना यह बंध है। शक्कर ही बाहर से दूध में आई और शक्कर ही दूध में मिलकर कण-कण के स्वरूप में लुप्त हो गई। दूध में पानी बाहर से आया और मिल गया। अग्नि में लोहे का गोला बाहर से आया और अग्निमय बनकर लाल बन गया। ठीक उसी तरह आश्रव के बाद बंध की क्रिया होती है। आश्रव को क्रिया से ही आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में मिथ्यादर्शन-अविरति आदि का रस गिरता है। तब आत्मा के प्रदेशों के साथ मिलकर एक रस बन जाते हैं। क्षीर+नीरवत्—दूध-पानी की तरह मिलकर एक रस होना, या तप्तायःपिण्डवत्—लोहे का गोला और अग्नि मिलकर जिस तरह एक स्वरूप हो जाते हैं उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल जड़ परमाणु आत्मा के प्रदेश के साथ मिलकर एक रस बन जाते हैं। यह एक रासायनिक प्रक्रिया है।

मूर्त-अमूर्त का मेल कैसे?

प्रश्न विचित्र खड़ा होता है कि—आत्मा और कर्म पुद्गल परमाणु एक चेतन है और दूसरा जड़ है। जड़-चेतन का क्षीर-नीरवत् मिश्रण कैसे हो सकता है?

जड़ का जड़ के साथ मेल हो यह रासायनिक क्रिया तो फिर भी संभव है। परन्तु जड़ का चेतन के साथ मिश्रण कैसे हो सकता है। दूसरी तरफ शास्त्र यह कहता है कि आत्मा अमूर्त है और कार्मण वर्गणा मूर्त है। पुद्गल होने से मूतत्व यह पुद्गल का धर्म है। मूर्त स्वरूप पुद्गल ये अमूर्त आत्मा के साथ कैसे मिल सकते हैं? और मिले तो भी मूर्त की अमूर्त पर क्या असर हो सकती है? यह कैसे संभव है? इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। मूर्त हो या अमूर्त हो दोनों मूलभूत द्रव्य स्वरूप तो अवश्य ही हैं। एक द्रव्य दूसरे से मिलता है। दूसरे में संमिश्रित होता है। फिर कहां प्रश्न रहा? जिस तरह बुद्धि-ज्ञान के ऊपर मदिरा या ब्राह्मी की असर होती है। मदिरा के सेवन से उन्माद आता है। बुद्धि उन्मत होती है। शराबी विवेक दशा भूल जाता है। निरर्थक प्रलाप करने लगता है। मां को पत्नी और पत्नी को मां समझकर न बोलने जैसा बोलने लगता है। उसी शराबी का नशा उतर जाने के बाद उचित व्यवहार देखकर हम आश्चर्य व्यक्त नहीं करते। दूसरी वस्तु है—ब्राह्मी। ब्राह्मी के सेवन से उन्माद की स्थिति टल जाती है। मनुष्य की बुद्धि का बौद्धिक विकास होता है। समझदार बनता है। इसे आप क्या समझेंगे? अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव। इसी तरह चेतनात्मा जो अनादि काल से संसार में है। देहधारी ही है। ऐसी स्थिति में अमूर्त आत्मा यदि मूर्त पुद्गल द्रव्य ग्रहण करती है तो वे पुद्गल परमाणु आत्म प्रदेश पर चिपक कर आत्म गुणों को ढकने का काम करते हैं। जिस तरह धूल के रजकण विपुल मात्रा में आकर घर की टाइल्स पर छा जाते है, फिर टाइल्स की डिजाइन आदि स्पष्ट दिखाई नहीं देती। सब कुछ दब जाता है, धूल कण से ढक जाता है। ठीक उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु जो सपूर्ण आत्मा के समस्त असंख्य प्रदेशों पर छा जाते हैं जिससे आत्म गुण ढक जाते हैं। दब जाते हैं। यही कर्मावरण है। कर्म है।

पुद्गल ग्रहण एवं परिणमन

जीव के साथ कार्मण वर्गणा के संमिश्रण की इस रासायनिक प्रक्रिया में दो क्रम है। पहले तो पुद्गल का ग्रहण होता है। इसे ही आश्रव मार्ग कहते हैं। आश्रव की क्रिया में सहायक कारण इन्द्रियां-अव्रत-कषाय-योग और क्रियाएं हैं। जबकि ग्रहण किये हुए पुद्गलों का आत्मा में परिणमन यह बंध तत्त्व कहलाता है। परिणमन यह क्रिया विशेष है। एक वस्तु अपना स्वरूप खो बैठती है और दूसरे में मिल जाती है। जिस तरह शक्कर जो पहले कण-कण स्वरूप में थी वह दूध में मिलकर तन्मय बन गई। एकरस हो गई यह परिणमन है। अंग्रेजी में दो क्रियाएं प्रयोग में आती है।

To Envolve. इसका अर्थ है मिलना। परन्तु यह मिलना ऐसा है कि वस्तु अपना स्वरूप खो नहीं बैठती। स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए मिलता है। एक व्यक्ति चारों में Envolve है। अर्थात् मिला हुआ है। दूसरी क्रिया है। To Desolve इसका अर्थ है पिघल जाना। एक रस हो जाना। शक्कर दूध में Desolve हो गई। उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु पहले आत्मा में Env olve होते हैं फिर कर्म बंध के मिथ्यात्वादि हेतु से Desolve होते हैं। एक रस हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ हम भोजन करते हैं। उदर में यकृत आदि में उसकी रासायनिक प्रक्रिया शुरू हो जाती है। आंतों के अन्दर उस आहार का पाचन हो जाता है। रस निर्माण होता है। वह रस रूधिरादि में परिणत होता है। नाडियों में रक्त खिचा जाता है। इस तरह एक आहार रस–रूधिर–मांस-मेद–अस्थि–मज्जा तथा वीर्य रूप सप्त धातुओं में परिणत होता है। यह परिणमन रासायनिक प्रक्रिया विशेष से चलता रहता है। जो आहार हम ग्रहण करते हैं उसमें से रस–रुधिर आदि सप्त धातुएं बनने के बाद अतिरिक्त आहार–पानी मल-मूत्र में परिणत होता है। जो शरीर की विसर्जन क्रिया करने वाले अवयवों के द्वारा विसर्जित किये जाते हैं। रक्त परिभ्रमण सारे शरीर में होता रहता है। सर्व धातुओं की पुष्टि होती रहती है। स्थूल रस अपने स्थान पर रहता है और सूक्ष्म रस धातु में मिश्रित होता जाता है। आहार में होती हुई इस रासायनिक क्रिया में ग्रहण–परिणमन की रासायनिक प्रक्रिया चलती है। दो पृथक् पृथक् वस्तुओं में एक का आकर्षित होने का दूसरी का आकर्षित कर खिचने का स्वभाव विशेष है। इसलिए दो का संबंध होता है। आत्मा का आकर्षित करने का खिचने का स्वभाव है और कार्मण वर्गणा आदि अष्ट वर्गणाओं के पुद्गल परमाणुओं का आकर्षित होने का खिचे जाने का स्वभाव विशेष है। जैसे चुम्बक का स्वभाव है। चुम्बक आकर्षित करता है, और लोह कण आकर्षित होते हैं। खिचे जाते है और आकर चुम्बक के साथ चिपक जाते है।

आत्मिक करणवीर्य

आत्मिक करणवीर्य जो मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रूप है उससे आत्मा में तथा प्रकार का कंपन निर्माण होता है। छद्मस्थ संसारी जीवों का छाद्मस्थिक वीर्य जो सलेश्य–लेश्या सहित होता है। वह सकषायि और अकषायि उभय रूप होता है। यह सलेश्य क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव से दो प्रकार का होता है। अभिसंधिज और अनभिसंधिज। उबलते हुए पानी में जैसा कंपन होता है वैसा कंपन कर्म-संयोग से आत्म प्रदेशों में सतत चालु रहता है। इस कंपन का असर शारीरिक,

मानसिक एवं वाचिक अनेक बाह्य प्रवृत्तिओं से व्यक्त होती है। अभिसंधिज एवं अनभिसंधिज वीर्य दोनों प्रकार के वीर्यप्रवर्तन से आत्मा में सतत कर्म योग्य कार्मण वर्गणा का प्रवेश होता ही रहता है। फिर प्रवेश हुए कार्मण परमाणु आत्म प्रदेशों के साथ एक रस होकर संबंध में आते हैं। यही बंध है।

आत्मा का प्रकंपित वीर्य जो कंपन पैदा करता है यह आत्मा के असंख्य प्रदेशों में सतत होता है। इसी के कारण आत्मा में सतत नए कर्म परमाणुओं का आगमन होता रहता है। फिर बंध होता रहता है। आत्मा के असंख्य सभी प्रदेशों के द्वारा ग्रहण कराते उन पुद्गल स्कंध समूहों में अनन्त वर्गणाएं होती है तथा प्रत्येक वर्गणा में अनन्त परमाणु होते है। आत्मा के वीर्य के विपरीत प्रवृत्ति द्वारा सतत असंख्य पुद्गलों से आत्मा ढकती जाती है। यह बिपरीत प्रवृत्ति मन-वचन-काया के द्वारा होते हुए करणवीर्य के द्वारा होती है। प्रति समय आत्मा के असंख्य प्रशों में अनन्त पुद्गल परमाणुमय कार्मण वर्गणा का ग्रहण होता है। आहार लेने के बाद जिस तरह पाचन होता है, फिर आगे रक्त-रुधिर-रसादि सप्त धातुओं में जिस तरह परिणमन होता है ठीक उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण के बाद आत्मा में उनका परिणमन होता है। ग्रहण क्रिया आश्रव मार्ग और परिणमन की क्रिया बंध तत्त्व के रूप में गिनी जाती है। यह बंध आत्मा के साथ पुद्गल परमाणुओं के एक रस भाव को कहते हैं। क्षीर नीरवत् बंध होता है। कर्म बंध के हेतुओं में जो मिथ्यात्वादि हेतु कारण रूप है उनका थोड़ा विचार करने से वे स्पष्ट हो जाएंगे।

मिथ्यात्व

'तत्र सम्यग् दर्शनाद् विपरीतं मिथ्यादर्शनम्"। सम्यग् दर्शन से जो विपरीत है वह मिथ्यादर्शन कहलाता है। सम्यग् अर्थात्—यथार्थ, वास्तविक सच्चा दर्शन ही सम्यग् दर्शन कहलाता है। जो पदार्थ जैसा है जिस स्वरूप में है उसे वैसा ही देखना-कहना-मानना यह सम्यग् दर्शन है। ठीक इससे विपरीत अर्थात् जो पदार्थ जैसा है जिस स्वरूप में है उससे विपरीत देखना-कहना-मानना यह मिथ्या दर्शन है। ऐसी मिथ्या बुद्धि मिथ्यात्व कहलाती है। **"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग् दशनम्"** तत्त्व और अर्थ की सच्ची श्रद्धा सम्यग् दर्शन है। इससे विपरीत **"तत्त्वार्थ अश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्"** तत्त्व और अर्थ की अश्रद्धा-उल्टी-गलत धारणा या मान्यता यह मिथ्यादर्शन है। मिथ्या भाव को मिथ्यात्व कहा है। देवाधिदेव भगवान एक तत्त्व है। उसका जो जैसा सही स्वरूप है वैसा न मानकर उल्टा मानना, विपरीत में भी

भगवान की बुद्धि रखना यह मिथ्यात्व है। अर्थात् राग-द्वेष रहित वीतराग सर्वज्ञ केवली-मोक्ष मार्ग के उपदेशक सर्व दोष रहित को भगवान मानना चाहिए यह सम्यग् दर्शन है और ऐसा मानकर इससे विपरीत रागी-द्वेषी-अल्पज्ञ एवं काम-क्रोधादि से भरे हुए को भगवान मानना यह मिथ्यात्व है। उसी तरह कंचन-कामिनी के त्यागी, तपस्वी, पंचमहाव्रतधारी साधु महाराज को गुरू मानना यह सम्यग् दर्शन है और इससे विपरीत धन-सम्पत्ति कंचन-कामिनी रखने वाले, अव्रती-अविरतिधर को गुरू मानना यह मिथ्यात्व है। सर्वज्ञोपदिष्ट मोक्ष साधक धर्म को सही अर्थ में धर्म मानना यह सम्यग् दर्शन है और इससे विपरीत अधर्म में भी धर्म बुद्धि रखना, संसार पोषक-विषय-कषाय-राग-द्वेषादि में भी धर्म बुद्धि रखना यह मिथ्यात्व है। आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, आश्रव-सवर, निर्जरा और बंध, कर्म-धर्म तथा मोक्षादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा है। इन तत्त्वों का जो स्वरूप है, जैसा स्वरूप एवं जो अर्थ है उसी स्वरूप एवं अर्थ में इन तत्त्वों को मानना-जानना ही सम्यग् श्रद्धा कहलाएगी। इससे विपरीत या तो इन तत्त्वों को न मानना, न समझना, न जानना या विपरीत अर्थ में मानना-जानना आदि मिथ्यात्व कहलाता है। यह मिथ्यात्व कर्म बंध कारक है। मिथ्यात्व कर्म बंधन में मूलभूत कारण है यह बताते हुए कहा है कि—

पटोत्पत्तिमूलं यथा तन्तुवृन्दं, घटोत्पत्तिमूलं यथा मृत्समूहः।
तृणोत्पत्तिमूल यथा तस्य बीजं तथा कर्म मूलं च मिथ्यात्वमुक्तम्॥

पट अर्थात् कपड़ा-वस्त्र। कपड़े की उत्पत्ति में जिस तरह तन्तु-धागा कारण है, घड़ा बनाने में मिट्टी जिस तरह कारण है, धान्यादि की उत्पत्ति में जिस तरह उसका बीज कारण है उसी तरह कर्म की उत्पत्ति में मिथ्यात्व कारणभूत है। कर्म बंध में मिथ्यात्व मूल कारण है। मिथ्यात्व की उपस्थिति में कर्म की बड़ी दीर्घ भारी प्रकृतियां बंधती है।

अविरति—"**यथोक्ताया विरतेर्विपरीताऽविरतिः**" जिस तरह अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहादि व्रत कहे गए हैं। इनमें मस्त रहने वाला जीव व्रती कहलाता है। यम-नियम का पालन करने से कर्म बंध नहीं होता। इससे विपरीत हिंसा-झूठ-चोरी-मैथून सेवन-दुराचार-व्यभिचार एवं परिग्रहवृत्ति से जीव भारी कर्म बंध करते है। कर्म बंध में अविरति भी एक हेतु है।

प्रमाद—"**प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलष्वनादरः योग दुष्प्रणिधानं चत्येष प्रमादः**"—मोक्षमार्ग की उपासना में शिथिलता लाना और इन्द्रियादि के विषयों में

आसक्त बनना यह प्रमाद है विकथा आदि में रस रखना भी प्रमाद है। जो आगम-विहित कुशल क्रियानुष्ठानादि है उनमें अनादर करना प्रमाद है। मन-वचन-कायादि योगों का दुष्प्रणिधान-आर्तध्यानादि की प्रवृत्ति प्रमाद भाव है। प्रमाद भी पांच प्रकार का बताते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं—

मज्जं-विषय-कषाया-निद्रा-विकहा य पञ्चमा भणिया।
ए ए पञ्च पमाया, जीवा पाडंति संसारे ॥

मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पांच प्रकार के प्रमाद बताए गए है जो जीवों को संसार में गिराते हैं। पतन के कारण भूत प्रमाद स्थान कर्म बंध कराते हैं।

प्रमाद

मद-८	विषय-५	कषाय-४	निद्रा-५	विकथा-४
जाति, लाभ,	स्पर्श	क्रोध	निद्रा	स्त्री कथा
कुल, बल,	रस	मान	निद्रानिद्रा	देश कथा
रूप, तप,	गंध	माया	प्रचला	भक्त कथा
श्रुत, ऐश्वर्य	वर्ण	लोभ	प्रचला प्रचला	राज कथा
	शब्द		थीणद्धि	

कषाय—कष + आय = कषाय—कष = संसार और आय = लाभ। अर्थात् संसार का लाभ जिससे हो वह कषाय है। अतः निश्चित हो गया कि जब जीव क्रोधादि कषायों की प्रवृत्ति करेगा तब संसार अवश्य बढ़ेगा। संसार कब बढ़ेगा ? जब कर्म बंध होंगे तब। अतः कषाय सबसे ज्यादा कर्म बंधाने में कारण है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उमास्वाति महाराज ने बताया है कि—**सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते**" (८-२)। कषायादि से युक्त (सहित) जब जब जीव होता है तब तब कर्म योग्य पुद्गलों को जीव खिंचता है, ग्रहण करता है। कषाय भाव में जीव कर्म से लिप्त होता है। ये कषाय आश्रव में भी कारण हैं तथा कर्म बंध में भी कारण है। आत्मा स्वभाव दशा छोड़कर विभाव दशा में जाती है यह प्रमादभाव है। अतः कषाय करना यह आत्मा का स्वभाव नहीं-विभाव है। इसलिए कषाय करना भी प्रमाद है। अतः कषायों को प्रमाद में भी गिना गया है। क्रोध-मान-माया और

लोभ ये कषाय के मुख्य चार भेद हैं। परन्तु मूलरूप से देखा जाय तो राग-द्वेष ये दो ही मूल कषाय हैं। राग के भेद में माया और लोभ आते हैं। तथा द्वेष के भेद में क्रोध और मान गिने जाते हैं।

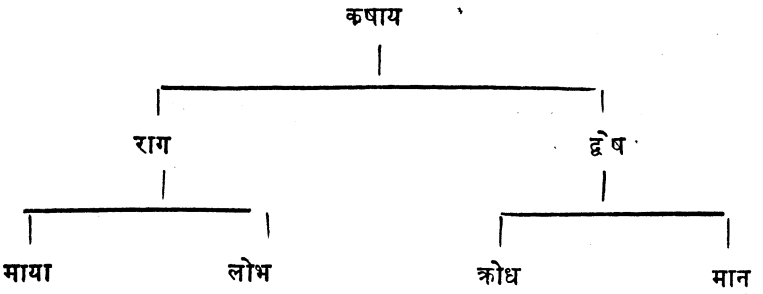

योग—मन-वचन-काया के ये तीन योग भी कर्म बंध के हेतु है। जीवात्मा सारी प्रवृत्ति इन तीन करणों के सहारे ही करती है। किसी भी प्रकार की क्रिया में ये तीन सहायक है। मन से सोचने-विचारने की क्रिया होती है। वचन से भाषा का वाग् व्यवहार होता है। काया (शरीर) से हलन-चलन, गमना-गमन, आना-जाना, सोना-उठना, खाना-पीना, आहार-निहार आदि की क्रियाएं होती है। इन्द्रियां भी शरीरान्तर्गत ही गिनी जाती है। शरीर के ही अंग है। अतः आंख-कान आदि पांचों इन्द्रियों से देखना, सुनना, चखना, स्वादादि अनुभव करना, स्पर्शानुभव करना ये सारी क्रियाएं भी काया से ही होती है। काया की क्रिया प्रवृत्ति कहलाती है तो मन की क्रिया वृत्ति के रूप से समझी जाती है। ये सभी कर्म बंध में कारण हैं। अतः बंध हेतु के भेदों में योग को भी कर्म बंध का हेतु माना गया है। वैसे शास्त्र में योग १५ प्रकार का बताया गया है। इस तरह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांचों प्रमुख रूप से कर्म बंध के हेतु है। इनसे कर्म का बंध होता है। अर्थात् आश्रव मार्ग से आत्म प्रदेश में प्रविष्ट की हुई कार्मण वर्गणा जो पुद्गल परमाणु स्वरूप है उनका आत्मा के साथ एक रस होना, क्षीर-नीरवत् या तप्त-अयःपिण्डवत् एक भाव होना बंध कहलाता है। यह बंध ४ प्रकार का है।

बंध के ४ प्रकार

स बन्धः ॥ ८-३ ॥ प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशास्तद्विधयः ॥ ८-४

कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ एकरसी भाव होकर परस्पराश्लेष रूप से रहना ही बंध है। उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम

सूत्र में यह बन्ध चार प्रकार का बताया है।

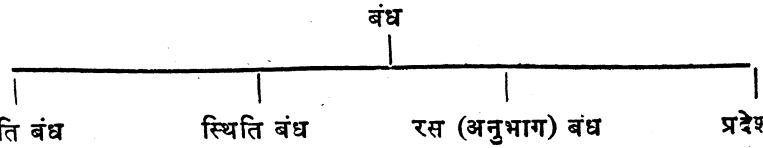

इन चारों के अर्थ को समझाते हुए नवतत्त्व में कहा है कि—

पयई सहावो वुत्तो, ठिई कालावहारणं ।
अणुभागो रसो णेओ, पएसो दल संचओ ।।

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। किस पदार्थ का कैसा स्वभाव है? इसके आधार पर कर्म की प्रकृतियों का कैसा स्वभाव है? क्या उनकी प्रकृति है? यह बात प्रकृति बंध के आधार पर कही जाएगी। स्थिति बंध में आत्मा के साथ लगे हुए कर्म बंध की काल स्थिति अवधि Time Limit कही जाएगी। अनुभाग का अर्थ है—**"सत्यां स्थितौ फलदान क्षमत्वादनुभाव बन्धः"** अर्थात् कर्म की स्थिति रहते हुए कर्मों का शुभ-अशुभ फल कैसा मिलेगा? उसका निर्णय अनुभाग बंध के आधार पर है। (४) **"कर्म पुद्गल परिणाम लक्षणः प्रदेश बंधः"** कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का प्रमाण कितना है यह प्रदेश बंध है। इस तरह ये मुख्य चार प्रकार के बंध हुए। जीव प्रदेशों के साथ कार्मण पुद्गलों का जब बंध होता है तब चार वस्तुओं का मुख्य रूप से निर्णय होता है। वे हैं प्रकृति–स्थिति–रस और प्रदेश। उदाहरण के लिए समझीए कि नव निर्माण हो रहे मकान का एक खंभा बन रहा है। वह सीमेन्ट का बन रहा है। अतः सीमेन्ट का स्वभाव विशेष कैसा है? गरम है या ठंडा है? या कैसा स्वभाव है यह देखना प्रकृति है। बना हुआ स्तम्भ कितने काल तक टिकेगा? कितने वर्षों तक रहेगा यह स्थिति हुई। स्थिति काल के आधार पर निर्भर करती है। तीसरे प्रकार में रस देखा जाय कि—खंभा बनाने में सीमेन्ट में क्या रस मिलाया जाता है? घी या दूध या पानी या तेल था क्या? उसके आधार पर उसकी स्थिति रहेगी। तथा सीमेन्ट के उस खंभे में परमाणु कितनी संख्या में है? सीमेन्ट का प्रमाण कितना है? यह प्रदेश संख्या की बात है। ठीक इसी तरह आत्मा के साथ कर्म के बंध की बात आती है तब प्रकृति-स्थिति-रस और प्रदेश इन चार की विचारणा की जाती है। बंधे हुए कर्म का स्वभाव क्या है? यह प्रकृति हुई। बंधा हुआ कर्म आत्मा के साथ कितने वर्षों तक चिपका हुआ रहेगा? यह स्थिति बंध हुआ तो काल मर्यादा को बताता है। तीसरा रस बंध है। बंध की क्रिया

में कैसा रस पड़ा है ? उसके आधार पर उसे शुभ या अशुभ फल मिलेगा। तथा अन्त में आत्मा में आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की संख्या कितनी थी ? उनका प्रमाण कितना था ? कितने प्रमाण में कर्म दलिकों का संग्रह हुआ है यह जानना प्रदेश बंध कहा जाता है। सामान्य समझ के लिए साथ का यह चित्र देखा जाय तो थोड़ा ख्याल इन शब्दों का आएगा।

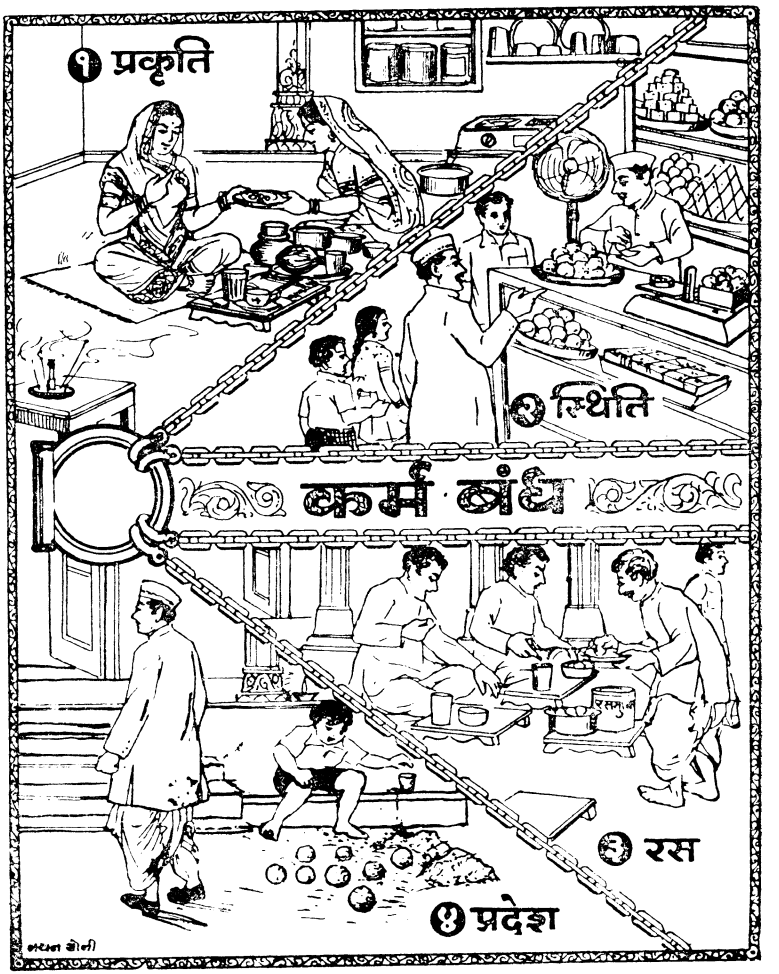

इस चित्र में चार भाग में प्रकृति आदि चार का स्वरूप समझाया गया है। जैसे (१) तपस्वी को पारणा करते समय सूंड–पीपरामूल की गोली खिलाई जाती हैं। उकाली पिलाई जाती हैं। क्योंकि संठ का स्वभाव आयुर्वेद ने दीपक–चापक

बताया है। पित्त शामक तथा वायुनाशक आदि स्वभाव वाली चीजें अपना गुणधर्म दिखाती है। ठीक उसी तरह आत्मा पर लगे कर्मों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव है कि आत्मा के ज्ञानादि गुणों को ढकना। (२) एक मिठाई की दुकान वाला लड्डु बनाता है और बेचता है। वे लड्डु कितने दिन तक चलेंगे ? बिगडेंगे नहीं। वैसे ही आत्मा पर लगे हुए कर्म कितने वर्ष तक रहेंगे ? वह स्थिति बंध बताता है। (३) रस-भोजन में षट् रस होते हैं तीखा-खट्टा-मीठा-कड़वा-तूरा-खारा इत्यादि। उसी तरह आत्मा के साथ लगे कर्मों का भी रस होता है। रस बंध में तीव्रता, मंदता आदि के भेद हैं। तथा उस रस बंध के आधार पर कर्मों के फल में शुभाशुभता देखी जाती है। (४) प्रदेश-बच्चा मिट्टी की गेन्द बनाकर खेल रहा है। उनकी भिन्न-भिन्न संख्या है। उसी तरह आत्मा में आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की संख्या या प्रमाण को प्रदेश बंध कहते हैं। इस तरह चार प्रकार का बंध चार चित्रों के उदाहरण से समझाया है। अब क्रमशः विस्तार से एक-एक का विचार करें :—

(१) प्रकृति बंध—प्रकृति का अर्थ है स्वभाव–Nature जड़ पुद्गल परमाणुओं का भी अपना स्वभाव है। कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल परमाणु आत्म प्रदेशों के साथ बंधकर एक रस हो गए हैं अब वे अपना कर्म के स्वरूप में स्वभाव दिखाएंगे। प्रति समय ग्रहण किये जाते कर्म स्कंधों में भिन्न-भिन्न स्वभावों का निश्चय होना यह प्रकृति बंध है। आज जीवात्मा अपने ज्ञानादि गुणों के स्वभावानुसार सारी प्रवृत्ति नहीं कर पा रहा है। क्योंकि आत्मा के उन उन गुणों पर कर्म का आवरण आ जाने से अब हमारी सारी प्रवृत्ति कर्मानुसार हो रही है। सभी प्रवृत्तियों में कर्म के स्वभाव की प्राधान्यता है। उदाहरण रूप से देखिए—हम राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-विषय-वासना कामादि की जितनी भी प्रवृत्ति करते हैं। इनमें से कौनसी आत्म गुण के आधार पर हो रही है ? एक भी नहीं। क्योंकि क्रोधादि करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। गुण भी नहीं है। ये क्रोधादि स्वभाव नहीं है वास्तव में विभाव दशा की विकृति है। परन्तु आज हम स्वभाव के रूप में व्यवहार करते हैं--ये तो बहुत क्रोधी है। ये बहुत लोभी है इत्यादि। यह व्यवहार कर्म स्वभाव के आधार पर होता है। अतः संसारी कर्म युक्त जीव कर्मानुसार वृत्ति-प्रवृत्ति वाले हैं। हां कर्म प्रकृति को दबाकर उसके उदय में भी उस कर्म प्रकृति के स्वभाव को गौण कर आत्म धर्म की साधना यदि जीव करने लगे तो जरूर होगी। तो हीं कर्मावरण हटेंगे। आठ उदाहरण जो ८ कर्मों को समझने के लिए दिये गये हैं उसमें आंख पर पट्टी, द्वारपाल, मदिरापान आदि का जो स्वभाव हैं वैसा ही स्वभाव बंधी हुई कर्म प्रकृतियों का है। अतः स्वभाव के आधार पर प्रकृति बंध कहा गया है। ऐसी कर्म की प्रकृतियां कितनी है ? कौनसी है उनके विषय में कहा है कि--

इह नाण-दंसणावरण-वेय-मोहाउ-नाम-गोआणि ।
विग्घं च पण नव दु अट्ठावीस चउ-तिसय-दु-पणविहं ।।

नवतत्त्व प्रकरण की ३९वीं गाथा में कर्म की मूल आठ प्रकृतियों के नाम तथा उनके अवान्तर भेदों की संख्या भी बताई है ।

आत्म गुणों के नाम	८ मूल प्रकृति के नाम	उत्तर प्रकृति की संख्या
(१) अनन्त ज्ञान गुण	ज्ञानावरणीय कर्म	५
(२) अनन्त दर्शन गुण	दर्शनावरणीय कर्म	९
(३) अनन्त सुख गुण	वेदनीय कर्म	२
(४) अनन्त चारित्र गुण	मोहनीय कर्म	२८
(५) अक्षय स्थिति गुण	आयुष्य कर्म	४
(६) अनामी-अरूपी गुण	नाम कर्म	१०३
(७) अगुरूलघु गुण	गोत्र कर्म	२
(८) अनन्तवीर्य गुण	अन्तराय कर्म	५
८ गुण	मूल प्रकृति ८	उत्तर प्रकृति–१५८

(१) ज्ञानावरणीय कर्म की ५ प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के ५ प्रकार के ज्ञान को ढकने का है । (२) दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा की देखने की शक्ति रूप दर्शन गुण को ढकने का है । (३) वेदनीय कर्म की २ प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अनन्त–अव्याबाध सुख गुण को ढकने का है । (४) मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अनन्त चारित्र गुण को ढककर क्रोधादि कराने का है । (५) आयुष्य कर्म की ४ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अक्षय स्थिति गुण को ढककर चार गति में जन्म-मरण कराने का है । (६) नाम कर्म की १०३ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अनामी–अरूपी निरंजन–निराकर गुण को ढककर नाम–रूप–आकृति वाला बनाने का है । (७) गोत्र कर्म की २ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अगुरूलघु गुण को ढककर उच्च–नीच गोत्र में ले जाने का है । (८) अन्तराय कर्म की ५ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अनन्त वीर्य (शक्ति) दानादि लब्धिगुण को ढककर उन लब्धि के प्राप्त होने में विघ्न करने का है । इस तरह यह प्रकृति बंध का कार्य क्षेत्र है । सभी कर्म की प्रकृतियां अपना भिन्न भिन्न स्वभाव दिखाती है । तथा आज सभी कर्म युक्त संसारी जीवों की सभी प्रवृत्ति इन कर्मों की प्रकृति (स्वभाव) के आधार पर चल रही है। अब आत्मा को चाहिए कि बलवान बनकर कर्म प्रकृतियों को हटाकर, क्षयकर, नष्टकर या दबाकर भी आत्म गुणानुरूप पुरूषार्थ करें और आत्म गुणों का प्रादुर्भाव करे यही धर्म है ।

(२) स्थिति बंध—स्थिति=काल मर्यादा—Time Limit **"कर्म पुद्गल राशेः कर्त्रा परिगृहीतस्यात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थितिः"** ।। कर्ता आत्मा के द्वारा परिगृहीत जो कार्मण वर्गणा के पुद्गलों की राशि आत्म प्रदेश में जितने काल तक रहे उसे स्थिति कहते हैं। उस स्थिति काल तक कर्म का आत्मा से चिपके रहना स्थिति बंध है। R.C.C. का एक मकान बन चुका है अब वह कितने वर्षों तक टिकेगा ? यह काल मर्यादा स्थिति कहलाती है। उदाहरणार्थ किसी मकान की स्थिति ६० वर्ष है, तो किसी मकान की १०० वर्ष है। फिर वह टूटने लगता है। सीमेन्ट के परमाणु पानी के साथ मिलकर खंभे–दिवाल के रूप में जो स्थिति है उनकी काल अवधि ६० या १०० साल रहती है। उसी तरह आत्मा के साथ मिले हुए कार्मण वर्गणा के जड़ पुद्गल परमाणुओं की आत्म प्रदेशों में रहने के काल को स्थिति बंध कहते हैं। भिन्न-भिन्न कर्मों का स्थिति काल भिन्न भिन्न है।

८ कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
(१) ज्ञानावरणीय कर्म	१ अन्तर्मुहूर्त	३० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(२) दर्शनावरणीय कर्म	१ ,,	३० ,, ,, ,,
(३) वेदनीय कर्म	१२ ,,	३० ,, ,, ,,
(४) मोहनीय कर्म	१ ,,	७० ,, ,, ,,
(५) आयुष्य कर्म	१ ,,	सिर्फ ३३ सागरोपम
(६) नाम कर्म	८ ,,	२० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(७) गोत्र कर्म	८ ,,	२० ,, ,, ,,
(८) अन्तराय-कर्म	१ ,,	३० ,, ,, ,,

इस तालिका से संक्षेप में आठों कर्म की जघन्य अर्थात् कम से कम और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक कर्म स्थिति बंध बतलाया है। अर्थात् आत्मा के साथ चिपका हुआ कर्म कम से कम १, ८ या १२ अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। जबकि अधिक से अधिक उत्कृष्ट स्थिति काल २०, ३० और ७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम का काल है।

(३) रस बंध—रस बन्ध को ही अनुभाग या अनुभाव बन्ध कहते हैं। सत्यां स्थितौ फलदान क्षमत्वादनुभाव बन्धः। कालान्तरावस्थाने सति विपाकवत्ताऽनुभाव बन्धः। समासादितपरिकावस्थस्य बदरादेरिवोपभोग्यत्वात् सर्व-देशघात्येक द्वि-त्रि-चतुः-स्थान-शुभाशुभ तीव्रमन्दादि भेदेन वक्ष्यमाणः ।।

कर्म की स्थिति होते हुए फल देने की क्षमता से अनुभाव बन्ध कहा जाता है। विपाक के काल में शुभ या अशुभ कर्म के फल का अनुभव, शुभ–पुण्य प्रकृति का मलीन परिणाम से मन्द, मैन्दतर तथा मन्दतम रूप से बन्ध होता है। उसी तरह विशुद्ध परिणाम के आधार पर तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम रूप से बन्ध होता है यह रस बन्ध है। रस बन्ध का मुख्य कारण कषाय है। कषायों के आधार पर मुख्य रूप से

अध्यवसाय-परिणाम बनते है। आत्मा में जैसे जैसे कषाय की तीव्रता बढ़ती जाती है वैसे वैसे अशुभ कर्म में रस का प्रमाण बढ़ता जाता है और शुभ कर्म में घटता जाता है। उसी तरह आत्मा में कषायों की मात्रा जैसे जैसे घटती जाएगी वैसे वैसे शुभ कर्म में रस का प्रमाण बढ़ता जाता है और अशुभ कर्म में घटता जाता है। यह तराजु के पल्ले के जैसी बात है। रस बन्ध के तीव्र-मन्दादि भेद से असंख्य प्रकार है। परन्तु कर्म शास्त्र में एकस्थानीय, द्विस्थानीय, तीनस्थानीय, चारस्थानीय के विभाग से चार भेद किये गए हैं।

रस बन्ध को समझने के लिए यहां नीम की पत्तियों के कटु रस का उदाहरण दिया जाता है। जो नीचे चित्र के द्वारा समझाया गया है। वह इस प्रकार है—नीम के पत्ते इकट्ठे करके संचे में उनका रस निकालकर एक पात्र में इकट्ठा किया जाय वह चार लिटर प्रमाण रस एक स्थानीय कहा जाएगा। ऐसा जीव मन्द कषाय वाला कहा जाता है। इसी ४ लीटर रस को काफी उबालकर आधा कर दिया जाय अर्थात् २ लीटर रखा जाय वह दो स्थानीय कहा जाएगा। इस जीव के कषाय पहले की अपेक्षा तीव्र परिणाम वाले कहे जाएंगे। फिर उसी शेष २ लीटर रस को क्वाथ की तरह और ज्यादा उबालकर सव्वा लीटर १/३ भाग ही शेष रखा जाय तो इसमें नीम का कड़वापन और ज्यादा बढ़ जाएगा। इस तीन स्थानीय रस के समान तीव्र कषाय के परिणाम वाले जीव तीव्रतर कषायी कहे जाएंगे। इसी सव्वा लीटर शेष रहे रस को और ज्यादा उबालते ही जाएं जो अन्त में पौना लीटर ही शेष रह जाय

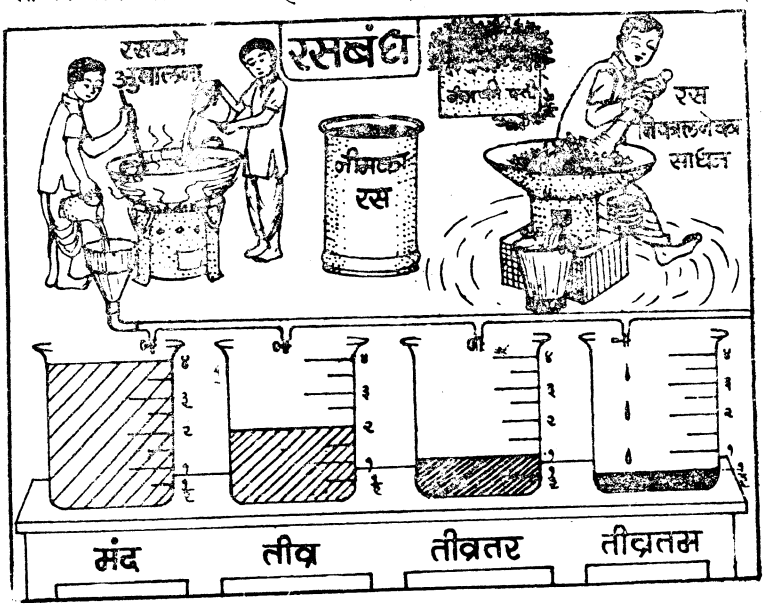

उसमें कड़वापन कितना गुना ज्यादा बढ़ जाएगा। उसे चारस्थानीय रस कहेंगे। ऐसे जीवों के कषाय तीव्रतम कक्षा के होंगे। इस तरह आप देखिए कि नीम का वैसे भी कड़वापन का स्वभाव है और उसको उबलते ही जाएं क्वाथ की तरह अधिक-अधिक उबालते ही जाय तो कड़वापन बहुत ज्यादा बढ़ता ही जाता है। ठीक इस उदाहरण की तरह आत्मा के कषाय की मात्रा जब बढ़ती ही जाती है तब वह मन्द से तीव्र, तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम प्रकार की होती है। जितना ज्यादा कषाय का रस बढ़ता जाएगा उतना कर्म बन्ध गाढ़ होता जाएगा। इस गाढ़ कर्म बन्ध के आधार पर की स्थिति भी दीर्घ होती जाएगी। यह बात अशुभ पाप कर्म के विषय की हुई। नीम का रस कटु होता है। पीने वाले का मुंह बिगाड़ देता है उसी तरह अशुभ पाप कर्म का रस (विपाकानुभव) जीव को फल देते समय कटु, कटुतर, कटुतम फल देता है। जो कि जीव को बहुत ही दुःखदायि लगती है।

नीम के रस का उदाहरण अशुभ पाप कर्म के लिए देखा वैसा ही शुभ पुण्य कर्म को समझने के लिए गन्ने के रस का उदाहरण लेकर समझना चाहिए। गन्ने का रस मीठा होता है उसे भी क्वाथ की तरह उबालते-उबालते वह भी मन्द से तीव्र, तीव्र से तीव्रतर और अन्त में तीव्रतम बनता जाएगा। चूंकि यह मीठा रस है अतः अच्छा-प्रिय लगेगा। उसी तरह शुभ पुण्य का रस अच्छा सुखदायि लगेगा इसमें कषाय का कड़वापन न रहने से शुभ पुण्य का रस-विपाकानुभव मीठा सुखदायि लगता है। यह शुभ पुण्य कर्म बन्ध की बात है।

(४) प्रदेश बन्ध— पुद्गल द्रव्य का विचार करते समय इसके चार भेद बताए थे-(१) स्कंध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु इन चार में प्रदेश जो भेद है वह स्कंध का अविभाज्य सूक्ष्मतम अंश है। कार्मण वर्गणा जो आठ वर्गणाओं में अत्यंत सूक्ष्मतम वर्गणा है उसके पिण्ड रूप स्कंध के अविभाज्य अंशों को प्रदेश कहे जाते है। ऐसे कार्मण प्रदेश आत्म प्रदेशों में जब ग्रहण होते हैं, मिलते हैं तब उन प्रदेशों की संख्या कितनी होती है? प्रमाण कितना होता है यह आधार प्रदेश बन्ध पर रहता है। जैसे एक चॉक बना है उसमें चूने के परमाणु कितनी संख्या में आए उसी तरह जीव ने जब कार्मण वर्गणा ग्रहण की है और फिर उसी को पिण्ड रूप में बनाकर कर्म बनाता है अतः उन प्रदेशों के प्रमाण को प्रदेश बन्ध कहते हैं। दूसरा उदाहरण है लड्डु का। एक बून्दी का लड्डु है तो उसमें बून्दी की संख्या कितनी है। प्रमाण कितना है जैसे यह देखा जाता है वैसे ही जीव ने ग्रहण की हुई कार्मण वर्गणा के स्कंध प्रदेशों को प्रदेश बन्ध कहते हैं। इसका आधार मन-वचन-काया के योग पर जितना योग ज्यादा उतने प्रदेशों को जीव ज्यादा खिचेगा। तथा जितना योग कम होगा उतने कार्मण प्रदेश कम खिचे जाएंगे। यह प्रदेश बन्ध का स्वरूप है। इस तरह यह प्रकृति-स्थिति-रस और प्रदेश बन्ध के भेद से चार प्रकार का बन्ध बताया गया है।

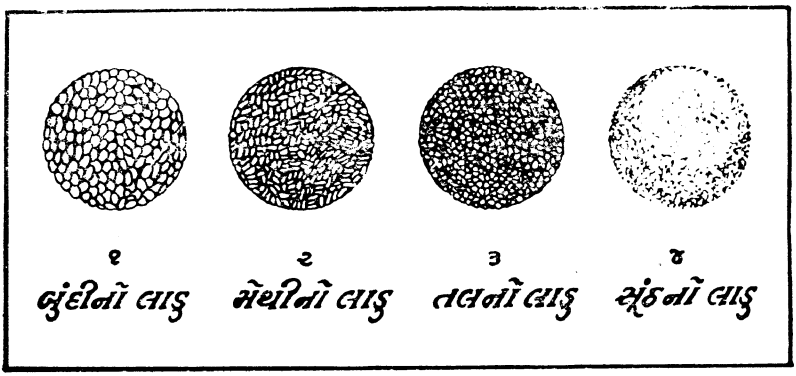

प्रदेश बन्ध में कार्मण प्रदेशों की कम-ज्यादा संख्या समझने के लिए चार प्रकार के लड्डुओं का यह चित्र दर्शाया है। (१) बुन्दी का लड्ड है। (२) मेथी का लड्डु है, (३) तिल का लड्डु है। (४) सोंठ का लड्डु है। इन चारों प्रकार के लड्डुओं की आकृति-साईज एक समान है। पहले बुन्दी के लड्डु में बुन्दी के दाने कितनी संख्या में है ? मानों की ५०० दाने है। इसी साइजवाले दूसरे मेथी के लड्डु में मेथी के दाने कितने हैं ? १००० से २००० भी हो सकते हैं। चूंकि बुन्दी से मेथी की साइज छोटी है। अतः संख्या ज्यादा रहेगी। इसके बाद तीसरा लड्ड तिल का है। इसमें तिल के दाने कितने होंगे ? तिल की साईज बहुत ही छोटी होने के कारण संख्या बहुत ज्यादा होगी। सम्भव है ४-५ हजार से भी ज्यादा हो। तथा उससे भी ज्यादा चौथे प्रकार के सोंठ के लड्डु में सोंठ के कण-कण की संख्या कितनी होगी। पिसी हुई सोंठ जो चूर्णरूप में हो गई है और उसका लड्डु यदि बनाया जाय तो उसमें सूई की नोंक पर आए ऐसे कणों की संख्या शायद १-२ लाख से भी काफी ज्यादा होगी या चूरमा का लड्डु हो तो उसमें भी कण छोटे-छोटे हैं। उदाहरणार्थ मुंह पर लगाए जाने वाले टेल्कम पावडर में एक-एक कण कण गिनने बैठे तो संख्या कितनी होगी ? या एक चॉर्क में चूने के कितने परमाणु होंगे ? उनकी संख्या संख्यात हो या असख्यात भी हो सकती है। ठीक इसी तरह आश्रव मार्ग में रही हुई आत्मा इन्द्रिय, कषाय-अव्रत-योग और क्रिया के प्रमुख आश्रव मार्ग से जब बाहरी आकाश में से कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं खिचती है तब आत्मा में आए हुए कार्मण परमाणुओं का प्रमाण कितना है यह प्रदेश बन्ध कहलाता है। जैसे तम्बाकू का पावडर जिसे तपकीर या नसवार या अन्य नामों से भी कहते हैं उसे एक बुद्धिढ सूंघती है—नाक से खिचती है। वह उसके शरीर में जाता है। एक बार सूंघने में कितने परमाणु गए ? उसी तरह दिन में १०-२० बार सूंघे तो कितने तम्बाकू के परमाणु उसके शरीर में गए ? उसी तरह प्रदेश बन्ध की प्रक्रिया में आत्मा कार्मण वर्गणा के

पुद्गल परमाणुओं को खिंचता है। इस प्रदेश बंध के बाद रस-बंधादि के आधार पर उन कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का एक पिण्ड बनेगा वह कर्म कहलाएगा। जब तक कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु बाहरी आकाश में स्थित है तब तक वे कर्म नहीं कहलाएंगे। वहां तो वे पुद्गल परमाणु ही कहे जाएंगे। परन्तु आत्मा में आने के बाद इन कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं में तथा प्रकार के कषाय आदि के रस के आधार पर एक पिण्ड बन जाएगा वह कर्म कहलाएगा। जैसे—गेहूं के आटे में पानी डालकर मसलकर एक पिण्ड बनाया उसी तरह यहां कार्मण वर्गणा के पुद्-गल परमाणुओं का पिण्ड बनता है। यही कार्मण शरीर एक सूक्ष्म शरीर के रूप में आत्मा के चारों तरफ लिपटा रहता है। आत्मा इसी सूक्ष्म कार्मण शरीर में बन्दिस्त रहती है। जन्म-जन्मान्तर में गति आदि इसी के आधार पर होती है। यह सूक्ष्म-कार्मण शरीर अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ है। समुद्र में से पानी भाप बनकर जाता है, उडता है-बादल बनकर फिर बरसता है—फिर समुद्र में पानी आता है, इस तरह समुद्र का अस्तित्व वैसा ही बना रहता है। वैसे ही इस सूक्ष्म कार्मण शरीर (कर्म पिण्ड) में नए कार्मण पुद्गल परमाणु आते रहते हैं और पुराने जिनकी अवधि समाप्त हो चुकी है वे जाते रहते हैं। यह क्रिया सतत् चलती रहती है। कर्म पिण्ड रूप सूक्ष्म कार्मण शरीर अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ ही है। अतः संसारी आत्मा सदा ही कर्मसहित—कर्म संयुक्त-कर्ममय ही कहलाती है। अतः पूर्व कर्मोदय से नए कर्म बांधती है नए कर्म पुनः पुराने बनते हैं, उनका पुनः उदय होगा, पुनः नए कर्म का बन्ध होगा। कर्म संयोग से जीव का दुःखी होना, और दुःखी होकर फिर कर्म बांधना, यह अनन्त का चक्र चलता ही रहता है। इसीलिए कर्म संयोग के कारण आत्मा को अनन्तकाल से भटकना ही पड़ रहा है और भटक रही है। अब यदि धर्म के संयोग से या माध्यम से जीव नए कर्म सर्वथा नहीं बांधते है ऐसी पूर्ण प्रतिज्ञा करले और पुराने कर्म सर्वथा क्षय करने ही है इस संकल्प पर चले तो **सव्व-पावप्पणासणो**-सर्व पाप कर्मों का नाश होजाय तो आत्मा सदा के लिए मुक्त होजाय। मुक्त होना या मोक्ष में जाने का अर्थ ही है कि अनादि के कर्म बन्ध-कार्मण शरीर से सदा के लिए मुक्त होना, छुटकारा पाना। रोग निवृत्ति के लिए जैसे औषध है वैसे ही कर्म निवृत्ति के लिए धर्म है। यदि धर्म के मार्ग पर नहीं चढ़े तो कर्म की निवृत्ति के बजाय कर्म की प्रवृत्ति ही सतत् चलती रहेगी।

कर्म बंध की पद्धति

मकान बांधते समय सीमेंट-रेती में पानी डालकर जो मिश्रण किया जाता है उसमें भी मिश्रण की प्रक्रिया में पदार्थों पर आधार है। पानी यदि बिल्कुल कम होगा तो मिश्रण बरोबर नहीं होगा।

वैसे ही रोटी बनाने के लिए आटे में पानी डालकर मिश्रण करके फिर मसल-कर पिंड बनाया जाता है। इसमें भी पानी के कम-ज्यादा प्रमाण पर आधार रहता है। उसी तरह आत्मा के साथ कर्म बन्ध में भी कषायादि की मात्रा आधारभूत प्रमाण है। सीमेंट–रेती में, और आटे में मिश्रण पानी के आधार पर होता है। वैसे ही आत्मा के साथ जड़ कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का मिश्रण कषाय के आधार पर होता है। कषाय ही यहां पर रस का काम करता है। यही कर्म बंध की पद्धति में माध्यम है। जिस तरह पानी कम–ज्यादा हो तो आटे के तथा सीमेंट के मिश्रण में या बन्धन में फरक पड़ता है उसी तरह कषायों में तीव्रता या मन्दता आदि के कारण कर्म के बन्ध में भी शैथिल्य या दृढ़ता आती है। अतः कर्म बन्ध की पद्धति चार प्रकार की है, जो (उपरोक्त चित्र में बताई गई है)।

(१) स्पृष्ट (२) बद्ध (३) निधत्त (४) निकाचित।

(१) स्पृष्ट (शिथिल) कर्म बन्ध— चित्र में दिखाए अनुसार एक युवक टेबल पर लोहे की बड़ी सुंइयों से खेल रहा है। सभी सुंइयां एक मुट्ठी में पकड़ कर टेबल पर गिरा दी हैं। वे सूंइयां एक दूसरी पर गिरी है। ढेर सी हो गई है। युवक अंगुली से एक-एक को अलग कर रहा है। केवल स्पर्श ही है अतः युवक को सुंइयां अलग करने में विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। ठीक इसी तरह सामान्य अल्प मात्र कषाय आदि कारण से बंधे कर्म जो आत्मा के साथ स्पर्शमात्र संबंध से ही चिपक कर रहे हैं उन्हें सामान्य पश्चाताप मात्र से ही दूर किये जा सकते हैं। वे स्पर्श कर्म बंध

कहलाते हैं। दूसरे उदाहरण से समझें तो धागे में हल्की सी गांठ जो शिथिल ही लगाई गई है वह आसानी से खुल जाती है। या हमारे कपड़े पर पड़ी हुई धूलकण जो झटकने मात्र से ही दूर होजाती है। वैसा कर्मबंध स्पर्श मात्र कहलाता है। कार्मण वर्गणा के कर्म योग्य पुद्गल परमाणु के रजकण जो आत्मा के साथ स्पर्शमात्र शिथिल बंध से चिपके हैं वे आसानी से पश्चाताप मात्र से छूट जाते हैं। जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यान में विचारधारा बिगड़ने से जो कर्मबन्ध हुआ था वह शिथिल स्पर्श मात्र ही था अतः २ घड़ी में तो कर्मक्षय भी हो गया और कर्म मुक्त होगए केवलज्ञान भी पागए।

(२) बद्ध (गाढ) कर्म बंध—यह पहले स्पर्श मात्र शिथिल बंध की अपेक्षा थोड़ा ज्यादा गाढ है। ज्यादा मजबूत है। पेक बण्डल में से सूईयां जो बन्द बण्डल में या बक्स में टाइट बांधी गई थी अतः उन्हें छूटी करने में थोड़ी सी कठिनाई आ सकती है। थोड़ा सा प्रयत्न ज्यादा करना पड़ता है। जैसे धागे में गांठ खिचकर लगाई गई हो तो खोलने में कठिनाई होती है। वैसे ही आत्मा के साथ कर्म का बन्ध जो गाढ–मजबूत हुआ हो वह बद्ध कक्षा का बन्ध है गाढ है। केवल पश्चाताप मात्र से वे कर्म नहीं छूट सकते। उनके क्षय के लिए प्रायश्चित लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए अइमुतामुनि को प्रायश्चित करते हुए कर्मों का क्षय हो गया। इस दूसरे प्रकार में कुछ शिथिल अंश भी होता है और कुछ गाढ बन्ध होता है। यह बद्ध बन्ध कहलाता है।

(३) निधत्त कर्म बंध—सूंइयां कई वर्षों से चिपकी हुई पड़ी है जिसमें पानी या हवामान के कारण जंग लग गया हो जंग से एक दूसरी के साथ ज्यादा चिपक गई हो वे आसानी से अलग नहीं पड़ती। दूसरे साधन की मदद लेनी पड़ती है या दूसरा उदाहरण है रेशमी धागे में लगाई गई पक्की गांठ जो बहुत जोर से कस कर बांधी गई हो वह अब खोलना बहुत ही मुश्किल है। वैसे ही आत्मा के साथ कर्म का बन्ध तीव्र कषाय की वृत्ति में बहुत ही ज्यादा मजबूत बन्ध जाता है। जो आसानी से नहीं छूटते। यह निधत्त प्रकार का बंध पहले दोनों प्रकार के बंध से दुगुना मजबूत है। इस प्रकार के कर्मों का क्षय तप–तपश्चर्या आदि धर्मानुष्ठान बिशेष से बडी कठिनाई से क्षय होता है। उदाहरणार्थ अर्जुनमाली का दृष्टांत लीजिए।

(४) निकाचित कर्म बन्ध—सुंईया सभी जंग या गरमी के कारण पिघल कर लोखन की प्लेट के जैसे एकाकार एक रस हो गई हो अब सूंई का स्वतन्त्र आकार भी दिखाई न देता हो। अब चाहे उस प्लेट को हथोडे से पीटो या अग्नि में जलाकर गरम करो तो भी छूटी नहीं पडती है। वैसे ही रेशम के धागे पर पक्की मजबूत गांठ लगाई गई हो और ऊपर से मोम लगा दिया जाय अब खुलना सम्भव नहीं है। धागा टूट जाय पर गांठ न खुले, वैसे ही लोखन की प्लेट के टुकडे हो जाय पर पुनः सुंई अलग नहीं पड़ती वैसे ही इस प्रकार का कर्म बन्ध किसी भी तपादि

अनुष्ठान से क्षय नहीं होता। वह तो भोगना ही पड़े. उसे निकाचित कर्म बन्ध कहते हैं। आत्मा के साथ तीव्रतर-तीव्रतम कषायादि के कारण इतना भयंकर गाढ कर्म-बन्ध हो जाता है कि अब वह किसी भी हालत में फल-विपाक दिये बिना न छूटे वह निकाचित जाति का कर्मबन्ध कहलाता है। उदाहरणार्थ भगवान महावीरस्वामी ने १८वें त्रिपृष्ठ वासुदेव के जन्म में शय्यापालकों के कान में तपाया हुआ गरम-गरम शीशा डलवाकर जो भयंकर निकाचित कर्म बांधा था आखिर उसका परिणाम यह आया कि २७वें महावीरस्वामी के अन्तिम जन्म में महावीर के कान में खीले ठोके गए। मगध के सम्राट मगधाधिप श्रेणिक ने शिकार में ऐसे कर्म बांधे कि जिसे भोगने नरक में जाना पड़ा। उपरोक्त चार दृष्टांतों को चित्र से समझाया गया है। चारों व्यक्ति सूंईयां अलग करने का ही प्रयत्न कर रहे हैं फिर भी प्रयत्न तथा समय में अन्तर है। वैसे ही चार प्रकार के कर्मबन्ध होते हैं। उनके बारे में यह विवेचन है। जीव अपने मन्द-तीव्र-तीव्रतर तथा तीव्रतम प्रकार के विविध कषायो के आधार पर उपरोक्त चार में से भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्म बंध करता है। तथा जिस प्रकार का कर्म बंध करता है उसी प्रकार की काल अवधि-स्थिति रहती है। उसी तरह जीव कर्मफल भी भोगता है। बंधा हुआ कर्म भिन्न-भिन्न चार अवस्थाओं में रहता है।

कर्म की अवस्थाएं-

कर्म बंध के ही आधार पर बन्ध-उदय-उदीरणा-तथा सत्ता की अवस्था का आधार है। बंधा हुआ कर्म इन चार अवस्थाओं में रहता है। (१) बंध (२) उदय (३) उदीरणा तथा (४) सत्ता। बंध ही नहीं होता तो उदय-उदीरणा कहां से आते?

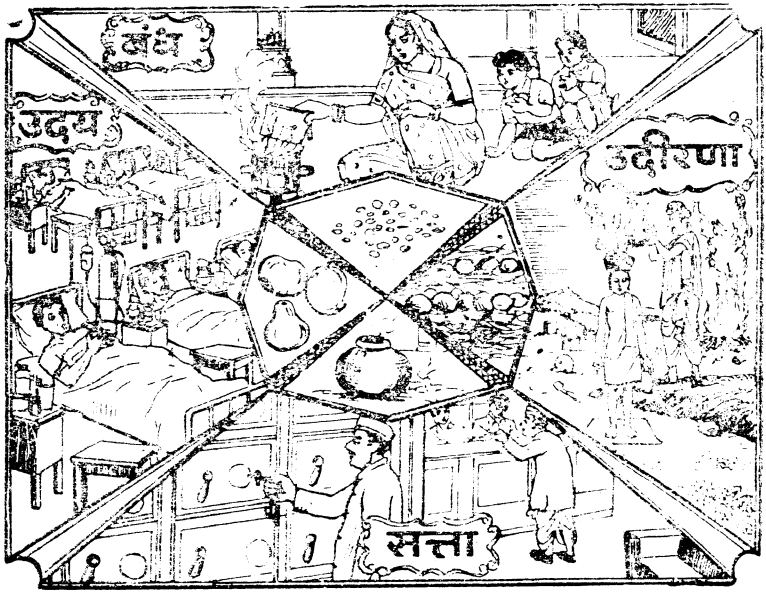

पैसे कमाए ही नहीं है तो फिर बैंक में जमा कहां से करते ? कर्म बांधे ही नहीं होते तो सत्ता में कहां से पड़े होते ? अतः कर्म बंध सबसे पहले मूल कारण है। अतः एक अपेक्षा से कर्म बंध को मूलभूत बीज अवस्था में स्वीकारना पड़ेगा। बीज होगा तो वृक्ष फल-फूल सब बनेंगे। अन्यथा नहीं। जीव प्रति समय आयुष्य के सिवाय सात-सात कर्म बांधता है। एक आंख की पलक में असंख्य समय होते हैं। आंख टिमटिमाई कि असंख्य समय का काल बीत जाता है। ऐसे असंख्य समयों में से १ समय लिया जाय, उस १ समय में जीव सात-सात कर्म बांधता है। और जब आयुष्य कर्म भी बांध ले तब आठ कर्मों का बंध होता है। यह तो हुई १ समय की बात। १ समय में ७ कर्म तो असंख्य समय में असंख्य × ७ कर्म बंधेंगे। ऐसे तो सारे दिन में कितने समय लगेंगे। एक सप्ताह, पक्ष और महीने तथा वर्ष में कितने समय होंगे। इस तरह जीवन भर के ७०-८०-१०० वर्षों में जीव कितने कर्म बांधेगा ? चित्र के पहले बंध विभाग में एक मां अपने बच्चों के स्कूल की पढ़ने की पुस्तकें सिगड़ी में जला रही है। यह पाप ज्ञानावरणीय कर्म का बंध कराएगा। कर्म बंध तो पाप की प्रवृत्ति के आधार पर ही होगा। जैसे जैसे पाप होंगे वैसे वैसे कर्म बंध होगा।

(२) उदय—कर्म के बन्ध के बाद दूसरी अवस्था उदय की आती है। उदय जैसे सूर्य का उदय होते ही प्रकाश फैल जाता है। वैसे ही बंधा हुआ कर्म उदय में आते ही सुख-दुःख का फल देगा। बीज पनपकर वृक्ष बना अब वृक्ष के फल-फूल लगते हैं वैसे ही कर्म बीज जो बंध में थे वे नियत काल पर उदय में आते हैं। उदय में आते ही शुभ कर्म का उदय सुख रूप मिलेगा। तथा अशुभ कर्म पाप का उदय दुःख रूप मिलता है। जैसा कि चित्र में बताया गया है कि अशाता वेदनीय पाप कर्म का उदय हुआ अतः कई अस्पताल में बीमार पड़े हैं।

(३) उदीरणा— बांधा हुआ कर्म निश्चित उदय में आएगा ही ऐसा कोई नियम नहीं है यदि कर्म बंध के बाद पश्चाताप-प्रायश्चितादि करके कर्म क्षय कर दिया तो वह कर्म नष्ट हो गया अब उदय में आने का प्रश्न ही नहीं रहेगा। यदि कर्म का क्षय नहीं किया है और कर्म की बंधी हुई काल अवधि से भी पहले उस कर्म को शीघ्र क्षय करने की इच्छा हो तो जानबूझकर समता आदि भाव से तीव्र वेदना अशाता आदि को सहन कर लेना उससे उदय का काल परिपक्व न होते हुए भी वे कर्म उदीरणा के माध्यम से उदय में खिचकर लाए जाते हैं। यह उदीरणा है। जैसे आम के वृक्ष पर भी आम अपने समय पर पकते हैं, और उन्हीं आम को जबकि वे कच्चे हरे हैं, उस समय तोड लेते हैं और घास में पेक कर रखते हैं, विशेष गर्मी से जल्दी पकते है। तो जो आम १०-२० दिन बाद पकने वाले थे उनको ३ दिन में पका कर बेचने वाले बेचते हैं। उसी तरह उदयकाल न होने पर भी जिन कर्मों की उदीरणा की जाय अर्थात् खिचकर लाकर विशेष समता आदि से भोग लेना यह उदीरणा कहलाती है। उदाहरणार्थ साधु महाराज केश लोच करते हैं,

विहार करते हैं। बड़ी लम्बी तपश्चर्या आदि करके क्षुधा आदि सहन की जाती है। ये सारे कर्मोदय जन्य नहीं है यह विशेष धर्माराधना है। साधक वेदना को भी हसते हुए आनन्द से सहन करता है इस उदीरणा की प्रक्रिया में कई कर्म जिनका उदय में आने का काल परिपक्व नहीं हुआ है वे उदय में आकर क्षय हो जाएगे। चित्र में उदीरणा विभाग में गजसुकुमाल कायोत्सर्गध्यान में खडे हैं और सोमिल श्वसुर जलते हुए अंगारे सिर पर रखकर उपसर्ग कर रहा है फिर भी मुनि महात्मा ने समता भाव से हसते हुए सहन कर काफी कर्म निजेरा की। यह उदीरणा है।

(४) सत्ता—सत्ता का अर्थ है—अस्तित्व। जैसे एक करोड़पति व्यापारी जो घर में बैठा है या बाग में टहल रहा है। ऐसे समय जेब में पैसे नहीं हैं फिर भी श्रीमन्त पैसे वाला तो कहलाएगा ही। क्योंकि उसके करोड़ों रुपए बैंक में जमा है। व्यापारियों को ब्याज पर दिये हुए हैं। कई कम्पनियों में रोके हैं। अतः हाथ में या जेब में न भी हो फिर भी वह करोड़पति तो कहा जाएगा। उसी तरह कुछ कर्म अभी उदय में नहीं है। आज शरीर स्वस्थ है। नाखुन में भी रोग नहीं है। परन्तु कई कर्म सत्ता में पड़े हैं। उनका अस्तित्व है। जैसे एक महीने बाद की ट्रेन की टिकिट रिजर्व कराई है। और आज भले ही बाजार में घूम रहे हैं। फिर भी रिजर्व टिकिट होने से मूल सत्ता में तो जाना निश्चित है ही। उसी तरह कर्म की स्थितियां दीर्घावधि की है। जिसके कारण आज वे कर्म उदय में नहीं दिखाई दे रहे हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कर्म है ही नहीं। वे कर्म सत्ता में पड़े रहते हैं। समय परिपक्व होने पर उदय में आते हैं। यह सत्ता है। जैसे भगवान महावीर ने तीसरे मरीचि के भव में नीच गोत्र कर्म बांधा था। वह लगातार १४ भव तक तो उदय में रहा। ७ बार नीच गोत्र में पटका। याचक कुल में याचक बनाया। उसके बाद वह नीच गोत्र कर्म सत्ता में छिपा बैठा रहा और अन्तिम २७वें भव में पुनः उदय में आया। इस तरह जैसे पैसा खजाने में पड़ा रहता है वैसे ही कर्म भी सत्ता में पड़ता है। यह खजाने जैसा स्थान है। सत्ता में पड़े हुए कर्म काल परिपक्व होने पर उदय में आकर फल देकर निर्जरित हो जाते हैं। या उदीरणा में खिचकर लाकर निर्जरित किये जाते हैं। आश्रव मार्ग से आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु बध हेतुओं से कर्म बन्ध होता है। बन्ध कैसा या किस तरह का होता हैं? यह जानने के लिए बन्ध की स्पृष्ट-बद्ध-निधत्त और निकाचित ये चार अवस्थाएं देखी। यह हुआ कर्म-बन्ध सत्ता में पड़ा रहता है। उसके बाद उनका उदय होता है और यदि की जाय तो उदीरणा होती है। इस प्रकार कर्म बन्ध तत्त्व का विचार किया गया है। यद्यपि संक्षेप में है फिर भी सारभूत तत्त्व समझने में उपयोगी है इस पुस्तिका में कर्म के आगमन एवं बन्ध की प्रक्रिया समझाई गई है, जिससे कर्म कैसे बनते हैं? कर्म क्या है? इत्यादि समझ में आ जाय! आगे आत्मा के प्रमुख ज्ञान गुण की विचारणा करके फिर क्रमशः एक एक कर्म की विचारणा करेंगे। इति।

—: 卐 शुभं भवतु 卐 :—

विनम्र निवेदन

परम पूज्य आचार्य भगवन्त

भद्रगुप्त सूरीश्वरजी म. सा. द्वारा लिखित

एवं

विश्व कल्याण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित एवं अन्य

हिन्दी पुस्तकें पेढ़ी पर उपलब्ध हैं

पूर्ण विवरण हेतु निम्न पते पर
सम्पर्क करें।

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ

आत्मानन्द जैन सभा भवन,
घी वालों का रास्ता,
जयपुर–302 003
दूरभाष : 563260